प.पू. श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज के

53 वें मुनि दीक्षा दिवस

के पुनीत अवसर पर प्रकाशित

श्री वादीभसिंह सूरि विरचित

क्षत्रचूड़ामणि

(जीवंधर चरित्र)

निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला

संपादन

आचार्य वसुनन्दी जी मुनिराज

संस्करण : प्रथम–1500 प्रतियाँ सन् 2007
द्वितीय–1000 प्रतियाँ सन् 2016

ग्रंथ : क्षत्रचूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)
ग्रंथकार : श्रीवादीभसिंहसूरि विरचित
पावन आशीष : प.पू. श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी मुनिराज
सम्पादक : प.पू. आचार्य श्री 108 वसुनन्दी जी मुनिराज
प्रकाशक : निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला समिति (पंजीकृत), दिल्ली
मूल्य : स्वाध्याय

मुद्रक : श्रीवसु ग्राफिक्स, दिल्ली

सम्पादकीय

- आचार्य वसुनंदी मुनि

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत जिनागम चार अनुयोगों में विभक्त है, जिस प्रकार गाय के चारों स्तनों में दूध समान वर्ण, शक्ति, स्वाद, स्पर्श व उपयोगिता से युक्त होता है उसी प्रकार पुष्प की चार पंखुड़ी की तरह ही प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग ये जिनवाणी के चार अनुयोग हैं। जिनवाणी का प्रत्येक शब्द प्राणी मात्र का कल्याण करने में समर्थ है, यदि हम उस शब्द का सही अर्थ समझने का प्रयास करें तो। जैन दर्शन में सभी कथन सापेक्ष हैं, निरपेक्ष कथन तो अकल्याणकारी ही होता है। जिन वचन ही समस्त भव रोगों के लिए परमौषधि के समान है। इन्हीं का (जिन वचनों का) समीचीन आश्रय/अवलम्बन भव्य जीवों को भव वारिधि से तारने के लिए समुचित व समर्थ नौका के समान है। जिन वचनों की महिमा के बारे में आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी कहते हैं-

जिण वयण मोसह मिणं, विसय सुह विरेयणं अमिद भूयं।
जर मरण वाहि हरणं, खय करणं सव्व दुक्खाणं।।17।।द. पा.

जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी यह औषधि विषय सुखों का विरेचन करने वाली तथा अमृतभूत है। जन्म, जरा, मृत्यु रूपी रोगों की परिहारक एवं सर्व दुखों का क्षय करने वाली है। उस परमौषधि का सेवन हमें अपनी पात्रता के अनुसार करना है। जिस प्रकार कुशल वैद्य रोगी की वय, रोग, शक्ति, प्रकृति, मौसम का प्रभाव देखकर, औषधि की मात्रा, सेवन की विधि व पथ्यापथ्य की बातों का समीचीन विचार करके ही रोगी को औषधि का सेवन कराता है, उसी प्रकार परम पूज्य श्री दिगम्बर जैनाचार्य रूपी कुशल वैद्यों के निर्देशानुसार हम सभी को भी क्रमशः जिनागम का स्वाध्याय करना है तभी हम जन्म, जरा, मृत्यु जैसे रोगों से मुक्तिप्राप्त कर सकते हैं। यदि हमने कुशल वैद्य के निर्देशों व सुझावों की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारिता पूर्वक (मनमाने ढंग से) औषधि का सेवन किया तो हो सकता है रोग नष्ट होने की बजाय बढ़ भी सकता है। तथा साथ में अन्य भी कई रोग पैदा हो सकते हैं अतः जिनागम (जिनेन्द्र भगवान या आप्त प्रणीत, गणधर भगवन्तों द्वारा संग्रहीत एवं दिगम्बर मुनियों द्वारा लिपिबद्ध शास्त्रों को ही जिनागम कहते हैं) का प्रत्येक अक्षर, शब्द, पद, वाक्य श्रद्धान के योग्य हैं। जिनवाणी का कोई भी अंश/अंग उपेक्षणीय नहीं है। आचार्य भगवन् श्री शिव कोटि महाराज कहते हैं-

पद मक्खरं च एक्कंपि जो ण रोचेदि सु णिदिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि हू मिच्छा दिट्ठी मुणेयव्वा।। (मूलाराधना)

जो जिनागम में प्रणीत एक भी अक्षर, शब्द, वाक्य या गाथा की श्रद्धा न करे और समस्त आगम को माने या उस पर श्रद्धा करे तो भी वह मिथ्या दृष्टि है अतः कोई भी अनुयोग कभी अकल्याणकारी नहीं होता अपनी पात्रता के अनुसार सभी का स्वाध्याय करना चाहिए।

प्रथमानुयोग के ग्रंथों में त्रेसठ शलाका के महापुरुषों का जीवन चरित्र दर्शाया गया है "उन्होंने जीवन में जो शुभाशुभ क्रियायें की, पुण्य पाप का बंध किया उसका क्या फल प्राप्त हुआ" का वर्णन है। एवं कर्म सिद्धान्त को प्रत्यक्ष दूरदर्शन (चलचित्र) पर चल रहे चित्रों की तरह दिखाया गया है। प्रथमानुयोग के शास्त्रों का प्रारम्भिक दशा में (स्वाध्याय के क्रम में) स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। इस अनुपयोग का स्वाध्याय करने से पापों से भीति, जिनेन्द्र भगवान में प्रीति, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व जिनधर्म में अनुराग व रुचि, संयम प्राप्ति की प्रबल भावना, संसार शरीर भोगों से उदासीनता/विरक्ति, रत्नत्रय में अनुरक्ति की भावना जागृत होती हैं। आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी जी कहते हैं-

प्रथमानुयोग मर्थाख्यानं चरितं पुराण मपि पुण्यम्।
बोधि समाधि निधानं बोधति बोधः समीचीनः।।43।।र. श्रा.

प्रथमानुयोग पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक है। पुराण/पौराणिक पुरुषों के पुण्य चरित्र का कथन करता है यह बोधि (रत्नत्रय - सम्यक दर्शन, ज्ञान, चारित्र) एवं समाधि- निर्विकल्प ध्यान की अवस्था (जो अभेद रत्नत्रय के प्राप्त होने पर शुद्धोपयोगी मुनि के आत्मा में लीन होने पर प्राप्त होती है जिसे आत्मानुभूति भी कहते हैं इसका प्रारंभ सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से होता है इसके पूर्व शुद्ध आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति कदापि संभव नहीं है। अर्थात असम्भव है) का खजाना है ऐसे समीचीन बोध को देने वाला प्रथमानुयोग/कथानक है अपितु उमें श्रावक धर्म व मुनि धर्म का कथन करने वाला चरणानुयोग भी उपलब्ध होता है। गुणस्थानों, मार्गणा स्थानों, दस प्रकार के कारणों एवं त्रिलोक संबंधी कथन होने से करणानुयोग, जीव की स्थिति तथा जीवादि द्रव्यों के स्वभाव, शुद्ध गुण, पर्याय का कथन भी प्रथमानुयोग में मिलने से द्रव्यानुयोग भी दृष्टिगोचर होता है। प्रथमानुयोग में भी संक्षेप रूप से चारों अनुयोगों का कथन मिल जाता है ऐसा कहना भी कोई अतिश्योक्ति नहीं है।

स्वाध्याय से विमुख या एकान्तवाद की पंक में लिप्त जो अज्ञ महानुभाव प्रथमानुयोग को कथा कहानी कहकर उसकी उपेक्षा करते ही हैं व अपने जीवन के साथ खिलवाड़ तो करते हैं साथ जिनागम की अवहेलना कर अन्य भव्य जीवों के पतन में भी कारणरूप से सहभागी हो जाते हैं।

अतः मन्द कषायी, भद्र परिणामी, प्रशम, संवेग भावयुक्त उन समस्त स्वाध्याय प्रेमी, सत् श्रद्धालु धर्मस्नेही, आत्महितेच्छुक, पाप भीरु महानुभावों के लिए विनम्र सुझाव/निर्देश है कि वे जिनेन्द्र भगवान की वाणी का अपलाप करके पाप के भागीदार न बनें, अपितु समीचीन शास्त्रों का समीचीन विधि से स्वाध्याय करके स्वपर के कल्याण में सहयोगी बनें। सम्यक्ज्ञान रूपी नेत्र के बिना जीव कभी भी अपना कल्याण नहीं कर सकता है अतः यथाशक्ति नित्य विनयपूर्वक विशुद्ध भावों से स्वाध्याय करने का समीचीन प्रयास करें।

इस ग्रंथ के पुनः प्रकाशन का उद्देश्य यही है कि अधिक से अधिक भव्य जीव स्वाध्याय के लिए प्रेरित हों। वर्तमान में स्वाध्याय की परम्परा मंद होती चली जा रही है क्योंकि जो स्वाध्याय करना चाहते हैं वे (प्रारम्भिक स्वाध्यायार्थी) बड़े-ग्रंथों को देखकर ही अपना साहस खो बैठते हैं। तथा प्रथमानुयोग के ग्रंथ सर्वत्र सहज सुलभ भी नहीं हो पा रहे हैं अधिकांशतः एकान्तवाद से दूषित साहित्य दृष्टिगोचर हो रहा है जिससे प्राणी मिथ्यात्व रूपी अंधकार में भटकते हुए भव भ्रमण की वृद्धि ही कर रहे हैं अतः प्रथमानुयोग के लघु शास्त्रों का प्रकाशन इस युग की आवश्यकता की पूर्ति में सहयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रंथ के सम्पादन में मुझ अल्पज्ञ साधक के द्वारा जो त्रुटि रह गई हों तो सकल संयमी विज्ञजन मुझे क्षमा करते हुए भूल सुधारने हेतु संकेत देने का कष्ट करें, इसमें जो त्रुटि हैं वे सब मेरी अल्पज्ञता की द्योतक हैं, तथा जो भी अच्छाई हैं वे सब परम पूज्य आचार्य भगवन्तों का सुप्रसाद ही हैं। अतः गुणग्राही बन कर गुण ग्रहण करें।

''अलमति विस्तरेण''

ॐ ह्रीं नमः
जिनचरणानुचरः समानुरन्तः
कश्चिदज्पज्ञ पापभीरुः निर्ग्रन्थः सूरि
दिनांक 13/3/2016

तिथि - फाल्गुन शुक्ला पंचमी
वी.नि.स. 2542, रविवासरे
स्थान - अशोक नगर, दिल्ली
वि.सं. 2072
जन्मकल्याणक महोत्सवे

प्राग्वक्तव्य

- आचार्य वसुनंदी मुनि

प्रस्तुत ग्रन्थ "क्षत्रचूड़ामणि काव्य" में श्री जीवन्धर स्वामी के पावन चरित्र का वर्णन है, जीवन्धर स्वामी अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के प्रत्यक्ष शासन काल में हुए। ये क्षत्रियों के चूड़ामणि/शिरोमणि से पूज्यनीय वीर शिरोमणि थे, इसलिये प्रस्तुत चरित्र काव्य का नाम 'क्षत्रचूड़ामणि' रखा गया है। संस्कृत कथा साहित्य का यह एक अनुपम ग्रन्थ है, इस प्रकार का दूसरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। इसकी कथा रोचक व चित्ताकर्षक है इसलिये अनेक मनीषी आचार्यों ने, भव भीरू संवेगी व्रती श्रावकों, विद्वानों ने, प्रखर प्रज्ञा के धारक नाना कवियों ने जीवन्धर स्वामी के चरित्र सम्बन्धित ग्रन्थ लिपिबद्ध किये हैं। यथा गुणभद्राचार्य जी ने उत्तर पुराण में महाकवि हरिचन्द्र ने स्वतन्त्र ग्रन्थ 'जीवन्धर चम्पू' में आचार्य अजित सेन जी ने गद्य चिन्तामणि काव्य में, आचार्य श्री शुभचन्द्र स्वामी जी ने स्वतन्त्र 'जीवन्धर चरित्र' आ. श्री तिरूतक्क देव जी ने 'जीवक चिन्तामणि' तमिल भाषा में स्वतन्त्र ग्रन्थ में कवि नथमल विलाला एवं पं. पन्ना लाल चौधरी जी ने हिन्दी भाषा में पद्य व गद्य में रचना कर स्व-पर का लोकोत्तर हित किया है।

"क्षत्रचूड़ामणि" नामक यह ग्रन्थ मनोहारी, सुपाठ्य, गीयमान, अनेक नीति-रीति, कहावतों, मुहावरों, लोकोतिक्तयाँ व दृष्टान्तों से परिपूरित है। संक्षेप में कथा सागर को प्रस्तुत करने वाली कला विद्या के इस काव्य में दर्शन होते हैं। इस काव्य की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें श्रृंगार रस का बाहुल्य व अलंकारों का अतिरेक नहीं है। जैसा कि प्रायः प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में श्रृंगार व अलंकारों की अधिकता रहती है। जिसका प्रभाव अबोध/बाल बुद्धि वालों पर प्रतिकूल भी पड़ सकता है। वह विलासिता का प्रचुरता व भोगों का उबाऊ (बोरियत करने वाला) वर्णन इसमें नहीं है। यह ग्रन्थ संक्षिप्त, सार गर्भित, सुगम, बोध गम्य एवं लुभावने वाला है। इस ग्रन्थ को प्रारम्भ करने वाला पाठक कथा को पूर्ण पढ़े बिना छोड़ना नहीं चाहता। इस ग्रन्थ की रचना, संभव है नीति-रीति व धर्म के संस्कारों को वृद्धिगंत व आबाल वृद्धों में प्रस्थापित करने हेतु ही की होगी। क्योंकि आचार्य अजित सेन/वादीभ सिंह ने जीवक "गद्य चिन्तामणि" रचने के उपरान्त इसे रचने का और या प्रयोजन हो सकता है।

ग्रन्थकर्ता का परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ "क्षत्रचूड़ामणि" के कर्ता अजितसेन सूरि हैं, इनका गृहस्थावस्था का नाम ओड़य देव था तथा दीक्षा के बाद अजितसेन रहा। आप महान तार्किकादित्य, वाग्मी, गमक व महामनीषी विद्वान थे। तथा न्याय दिवाकर, व्रत मार्तण्ड, संयम शिरोमणि, सिद्धान्त सागर, उद्भट प्रवक्ता थे। आपके समय में आपकी वाद-विवाद/शास्त्रार्थ में समानता रखने वाला अन्य कोई आचार्य साधु या विद्वान नहीं था। आपने एकांतवादी मिथ्यादृष्टियों के नेत्रों में विद्यमान मिथ्यात्व व अज्ञान के अन्धकार को नष्ट कर दिव्य प्रकाश दिया। अल्प शब्द ज्ञान के अहंकार, औदृत्य के दर्प से उदण्ड, मदोन्मत्त वादी रूपी हाथियों के लिये आप केहरि सिंह के समान प्रसिद्ध को प्राप्त हुए। इसलिये महामनीषी विद्वतजनों व श्रमणसंघों में आप 'वदीभ सिंह' उपाधि जन्म नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। अपने धर्ममूर्ति, ज्ञान महोदधि श्री पुष्पसेन नामक सूरिवर्य/आचार्य से दीक्षा-शिक्षा ग्रहण की और लोक को सन्मार्ग दिखानेमें अद्वितीय सूर्य के समान विख्यात हुए। जैसा कि गद्य चिंतामणि के श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है-

श्री पुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रतीतो,
दिव्यों मनुर्हृदि सदा मम संनिदहयात्
यच्छक्तितः प्रकृति मूढ मतिर्जनोऽपि,
वादीभ सिंह मुनि पुंगवतामुपैति। ।6।।
श्रीमद् वादीभ सिहेन, गद्य चिंतामणि कृतः।
स्थेयादोड़यदेवेन चिरायास्थान भूषणः।।
स्थेयादोडय देवेन, वादीभ हरिणाकृतः।
गद्य चिन्तामणि लोंके, चिन्तामणि रिवा परः।।7।।

इससे अधिक आचार्य भगवन् वादीभ सिंह के बारे में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता, कि किस कान में अपनी चरण रज से इस वसुधा को पावन करते रहे। किस कुल वंश व मात तात को आपने धन्य-कृतार्थ किया। किन्तु आलेखों, शिलालेखों, मनीषी विद्वानों के माध्यम से एवं ग्रन्थ साहित्य से यह निश्चित होता है कि आपका जन्म मद्रास के निकटवर्ती तिनिवेल्ली जिले में हुआ, वहाँ दिगम्बर सहजता में नहीं पहुँच पाते। तथा आज भी वहाँ उड़यदेव, ओड़य देव, ओड़यात्तेव, ओडयाल्वार नाम धारक व्यक्ति मिलते हैं।

आपका जन्म व साधना काल शिलालेख, ग्रन्थ साहित्य व अनुमान के द्वारा बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। संभव है अपने गुणभद्र स्वामी द्वारा रचित उत्तर पुराण नामक ग्रन्थ का आधार लेकर ही अपने 'क्षत्रचूड़ामणि' नामक ग्रन्थ की रचना की है। वर्तमान काल में आपके द्वारा विरचित केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। प्रथम गद्य चिन्तामणि और द्वितीय क्षत्र चूड़ामणि। संभव है इसके अतिरिक्त आपने अन्य भी सिद्धान्त, न्याय, अध्यात्म व प्रथमानुयोग के ग्रन्थ रचे हों, किन्तु वे वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। या तो वे कालचक्र से लुप्त हो गये या आहूति (जैन शास्त्रों की छह माह तक विधर्मियों ने होली जलाई थी) में समिधा बन कर स्वाहा हो गये। अथवा जैन समाज के दुर्भाग्य से शास्त्र भण्डारों में दीमक, कीड़ी, चूड़ा आदि जंतुओं का सुपाच्च और सुस्वादु भोजन बन गये अथवा भण्डारों में आज सड़-गल रहे हो तब भी क्या आश्चर्य ?

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद लाला मुंशीलाल जी एम. ए. ने किया है, तथा प्रकाशन नाथूराम प्रेमी के प्रयास से वीर निर्वाण संवत 2436 में (आज ई. स. 2007 या वी. नि. सं. 2533 से 17 वर्ष हुआ था) ई. सन् 1910 में हुआ था, इसके मध्य अन्य भी प्रकाशन हुए होंगे किन्तु हमें जो प्रति प्राप्त हुई है, उस पर माघ सुदी 8, वी. नि. 436 ही अंकित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में मुझ अल्पज्ञ, छद्मस्थ पाठक से प्रूफ रीडिंग में, अर्थ, शब्द विन्यास में जो कार्द त्रुटियाँ रह गई हो तो विज्ञ पाठक/अध्येता संशोधन/सही अर्थ निकालकर ही पढ़ें, तथा सम्पादक को त्रुटि व संशोधन हेतु सुझाव प्रेषित करें। ग्रंथ को आद्योपांत पढ़ कर स्वात्म हित हेतु हितकारी, सार्थक, बोधप्रद शिक्षा को हंसवत् गुण ग्राही दृष्टि बना कर ग्रहण कर लें।

'अलमति विस्तरेण'

गुरू चरणाम्बुज चंचरीक
कश्चिदल्पस श्रमण सूरि
अशोक नगर, दिल्ली
13/3/2016

श्री जिनाय नमः

श्री वादीभसिंहसूरि विरचित

क्षत्रचूड़ामणि

प्रथम लम्ब

वे अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी श्री जिनेन्द्र भगवान तुम सम्पूर्ण भक्तों की इच्छा को पूर्ण करें, जिनकी भक्ति मुक्ति रूपी कन्या के वरने में द्रव्य का काम देती है अर्थात जिनेन्द्र देव की भक्ति से ही मुक्ति प्राप्त होती है। जैसे वर कन्या को शुल्क द्रव्य देकर ही विवाह सकता है।।1।।

मैं जीवंधर स्वामी का चरित्र संक्षिप्त रीति से वर्णन करता हूँ क्योंकि सारा ही अमृत पीने से ही कुछ सुख प्राप्त नहीं होता है, थोड़ा पीने से भी सुख होता है। सारांश यह है कि, जिस प्रकार थोड़ा अमृत भी सुखकारक होता है, उसी प्रकार से संक्षेप में कहा हुआ यह चरित्र आनन्द को उत्पन्न करने वाला होगा।।2।।

सुधर्म नाम के गणधर ने श्रेणिक राजा के प्रश्न करने पर जिस प्रकार वर्णन किया था, उसी प्रकार से मैं भी इस चरित्र को मोक्ष पाने की इच्छा से वर्णन करता हूँ।।3।।

इस लोक में जम्बूद्वीप को सुशोभित करने वाले भरतखंड के अन्तर्गत हेमकोशों की अर्थात् सोने की खानियों की शोभा को धारण करने वाला एक हेमांगद नामका मंडल है।।4।। और उस मंडल में (प्रदेश में) राजपुरी नाम की राजधानी सुशोभित है, जो विधाता की बनाई हुई राजपुरी अर्थात् अलकापुरी की रचना में माता के समान आचरण करती है। अभिप्राय यह है कि, यद्यपि अलकानगरी की रचना सबसे उत्तम है परन्तु यह नगरी उस अलका से भी श्रेष्ठ है।।5।। इस नगरी में सत्यधंर नाम का राजा राज्य करता था। यह राजा सच बोलने वाला (वक्ता), वृद्धों की सेवा करने वाला विशेष-विशेष बातों का जानने वाला (बड़ा बुद्धिमान), सदा उद्योग करने वाला और आग्रह व हठ न करने वाला था।।6।। इस राजा की विजया नाम की मुख्य और प्रसिद्ध पट्टरानी थी जिसने अपने पतिव्रत्यादि गुणों से संसार की सम्पूर्ण स्त्रियों पर विजय प्राप्त की थी अर्थात् सबको जीत लिया था और इसी से उसका नाम विजया रखा गया था।।7।।

राजा अन्तःपुर की सारी स्त्रियों में इसी पर अधिक प्यार करता था और किसी पर इतना स्नेह नहीं रखता था क्योंकि सौभाग्य बड़ा दुर्लभ है। अर्थात् सारी स्त्रियां सौभाग्यवती नहीं होती हैं, कोई-कोई होती है।।8।।

यद्यपि निष्कंटक राज्य करने वाला यह राजा बुद्धिमानों का शिरोमणि था, तथापि अपनी रानी विजया में रात दिन आसक्त रहता था और कुछ नहीं जानता था।।9।। जिन पुरुषों का चित्त विषयों में लगा रहता है, उनके सारे गुण नष्ट हो जाते हैं। न तो उनमें पाण्डित्य रहता है, न मनुष्य भाव रहता है, न कुलीनता रहती है और न सच्चाई रहती है।।10।। कामीजन किसी बात से नहीं डरते हैं। पराई सेवा संबंधी दीनता से, चुगली खाने से, निन्दा से और तो क्या अपना पराभव होने से भी व तिरस्कार होने से भी नहीं डरते हैं।।11।। काम से पीड़ित जन भोजन, दान, विवेक, वैभव मानादिक सबको छोड़ देते हैं और तो क्या अपने प्राणों को भी त्याग देते हैं।।12।।

फिर उस दाता ने यहा चाहा कि, सारा राज्य काष्ठांगर को सौंप दूँ। क्योंकि जो लोग राग व अनुराग से अंधे होते हैं, उनके विचार अविचारितगम्य होते हैं। अर्थात् वे तभी तक सुन्दर मालूम होते हैं, जबतक कि, उन्हें भली भांति सोचा नहीं है।।13।। उस समय उसके मुख्य-मुख्य मंत्रियों ने आकर कहा कि, हे देव! आपको विदित है, आप जानते हैं, तो भी हमारी यह प्रार्थना सुनिये।।14।। जब राजाओं को अपने हृदय पर भी विश्वास नहीं करना चाहिये, तो फिर दूसरे मनुष्य पर भरोसा रखना सर्वथा अनुचित है। राजा नटों की तरह आचरण करते हैं अर्थात केवल बाहर से विश्वासपात्र दिखलाई देते हैं। लोग समझते हैं कि हम पर विश्वास करते हैं, परन्तु भीतर से ऐसे नहीं होते हैं। किसी का भी विश्वास नहीं करते हैं।।15।। जब धर्म, अर्थ और काम का एक दूसरे का विरोध किये बिना यथोचित सेवन किया जाता है, अर्थात् न केवल धर्म ही सेवन किया जाता है, न अर्थ (धन) और न काम, किन्तु तीनों जितने चाहिये, उतने परिमाण से सेवन किये जाते हैं, तब ही निर्विघ्न सुख प्राप्त होता है। और फिर अनुक्रम से मोक्ष अर्थात चौथे पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।।16।। इसलिये राजाओं को सुख प्राप्त करने की इच्छा से धर्म और अर्थ को नहीं छोड़ना चाहिये। और यदि आप केवल काम के द्वारा सुख की इच्छा करते हैं, तो यह हो नहीं सकता है क्योंकि निर्मूल को सुख कहाँ? अर्थात् काम के मूलभूत धर्म और अर्थ (धन) हैं। जब ये दोनों ही नहीं होवेंगे, तब कामसेवन कैसे होगा?।।17।। जो वस्तु नाश होने वाली और आगे आने वाली है, पहले उसे प्राप्त करना चाहिये। और जब वह प्राप्त हो गई, तब

अपनों को विचार कर ही आगे कोई उपाय करना चाहिये, नहीं तो पश्चाताप करना पड़ता है।।18।।

यद्यपि मंत्रियों ने राजा को इस प्रकार सब ऊंच नीच जता दी, तो भी उसने मूर्खता से काष्ठांगार को राज्यभार सौंप दिया। सच है, बुद्धि कर्म के अनुसार काम करती है। अर्थात् जैसी होनहार होती है, वैसी ही बुद्धि सूझती है।।19।। विरक्त पुरुषों का समय विषय भोगादिक को अन्धा विचार करने में अर्थात उन्हें मूर्खता का काम समझने में व्यतीत होता है, परन्तु राजा प्रबल भोगादिक से आकृष्ट होकर और गाढ़ राग में लिप्त होकर अपना समय बिताने लगा।।20।।

एक दिन नींद में सोई हुई विजयारानी ने प्रभातं के समय अर्थात् रात्रि के अन्तकाल में स्वप्न देखा। क्योंकि जब तक वह पहले स्वप्न नहीं आ लेता, तब तक मनुष्यों के लिये शुभ व अशुभ का (इष्ट व अनिष्ट का) प्रादुर्भाव कदापि नहीं होता है।।21।। फिर शौचादिक से निवृत्त होकर रानी अपने स्वामी राजा के पास आई और आधे आसन पर बैठकर पृथ्वी का उपभोग करने वाले राजा से बोली- (मुझे) स्वप्न में पहले यह दिखाई दिया कि, एक अशोकवृक्ष है, जिसको किसी ने काट डाला है, फिर उसकी जगह एक सोने का अशोक वृक्ष दिखाई दिया, तदन्तर आठ मालाएँ दीख पड़ीं।।22।। राजा इन तीनों स्वप्नों को सुनकर कुछ उद्विग्न चित्त अर्थात् उदास सा हो गया और इनका फल क्रमरहित कहने लगा। अर्थात् पहले प्रथम स्वप्न को छोड़कर पिछले दो स्वप्नों का फल कहने लगा।।23।। क्योंकि धन दौतत पुत्र, मित्र, स्त्री आदि सब कुछ होने पर भी मनुष्यों के हृदयों को अपने प्राणों के नाश होने का डर शंकु व त्रिशूल की तरह पीड़ा देते है।।24।। हे देवि! तूने स्वप्न में जो तरूण अशोक मौर सहित देखा है, उससे यह विदित होता है कि, तेरे एक बड़ा प्रतापी पुत्र उत्पन्न होगा और आठ मालायें उसकी आठ वधुओं को बतलाती हैं। अर्थात् उसकी आठ स्त्रियां होंगी।।25।। रानी ने कहा, हे आर्यपुत्र! उससे पहले जो वृक्ष देखा था और फिर वह नष्ट हो गया था, उसका क्या फल है? राजा ने कहा, हे देवी! अशोक वृक्ष भी कुछ कहता है। अर्थात उसके देखने से कुछ सूचित होता है। (ऐसा कहकर राजा ने टालटूल कर दी, स्पष्ट उत्तर नहीं दिया)।।26।। परन्तु स्वामी का यह वचन सुनकर और उनके मुख की मलिनता देखकर ही रानी भूमि पर गिर पड़ी और मूर्छित हो गई। क्योंकि हृदय का भाव मुख की चेष्टा से प्रगट हो जाता है।।27।। तब राजा ने मोह से मोहित होकर रानी को सचेत किया ओर कहा, क्योंकि पिशाच पीड़ा और महाकष्ट होने पर भी पुरुषत्व जागृत ही रहता

है।।28।। "हे रानी! स्वप्न देखने से ही तू क्यों मुझको तत्काल मरा हुआ समझती है? जो फलवाले वृक्ष की रक्षा करना चाहते हैं, वह उसको जलाते नहीं हैं। इसलिये तू मुझे अभी से क्यों मारती है?।।29।। विपत्ति दूर करने के लिये मनुष्यों को शोक करने से क्या लाभ होता है? तप व उष्णता का दुःख निवारण करने के लिये कोई आग में नहीं गिरता है।।30।। इस कारण यह निश्चय करके जान लें कि, आपत्ति का उपाय धर्म ही है। क्योंकि जिस देश में दीपक जलते रहते हैं, वहाँ अन्धकार नहीं होता है। अर्थात् धर्मरूपी दीपक ही विपत्तिरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले है"।।31।। स्वामी के इस प्रकार के वचन सुनकर उसको धीरज हुआ और वह पहले की तरह पति के संग फिर रमण करने लगी क्योंकि दुःख की चिन्ता थोड़े ही काल के लिये होती है।।32।।

स्वप्न द्वारा राजा को जागृत करना चाहा था, पर वह जागृत नहीं हुआ। अर्थात् उसने विषयभोगादिक छोड़कर अपने राज्य को नहीं संभाला। अब रानी ने गर्भ को भार धारण किया। सो मानो उसने राजा को फिर सम्बोधित किया कि, सचेत हो जाओ।।33।। अब राजा रानी को गर्भवती देखकर और स्वप्न का फल निश्चय करके अपनी रक्षा के लिये तत्पर होता हुआ पश्चाताप करने लगा।।34।। "मैं बड़ा अभागी हूँ, जो मैंने मंत्रियों के वाक्यों का वृथा उल्लंघन किया। सच है, अविवेकी अर्थात् मूर्ख पुरुष अन्तकाल में ही सज्जनों के वचन पर विश्वास करते हैं, पहले नहीं।।35।। असमय में की हुई इच्छा मनोरथ को पूरा नहीं करती। देखो, जब फल लगने का समय आ जाता है, तब क्या फूल इकट्ठे किया जा सकते हैं? कदापि नहीं"।।36।।

राजा ने इस प्रकार मन में दुःखी होकर अपने वंश की रक्षा के लिये एक मयूराकृति यंत्र (केकियंत्र) बनाया। क्योंकि सज्जनों की आस्था इस नाशवान शरीर में इतनी नहीं होती है, जितनी कि यशरूपी शरीर में होती है।।37।। और फिर वह अपनी गर्भवती रानी की दोहद क्रीड़ाओं का अनुभव करने के लिये क्रीड़ा करने लगा और उसे उस केकियंत्र में बिठाकर आकाश में विहार कराने लगा।।38।।

इसी समय में राजा के वध करने की कृतघ्नता करता हुआ और पृथ्वी को अपने वश में करता हुआ काष्ठांगर यह विचारने लगा।।39।। "जीवों के पराधीन जीवन व्यतीत करने से तो उनका मरना ही भला है (पराधीन सपनेहु सुख नाहीं) अथवा बन में मृगेन्द्र व सिंह को प्रभुताई किसने दी है? अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपनी ही पुरुषार्थ और बाहुबल से स्वतंत्र हो सकता है"।।40।। फिर उसने मंत्रियों से कहा कि, "राजद्रोह करने वाला दैव

नित्य यह कहता है कि, तुम राजद्रोह करो अर्थात् राजा के साथ बैर करो- उसे मार डालो।।41।। परन्तु इसका अन्त अच्छा है व बुरा और इसका परिणाम क्या होगा, इन बातों को तुम सोचो। यह वार्ता अभी तर्क वितर्क करके नहीं सोची गई है और यह तर्क पर चढ़ जायेगी अर्थात भलीभांति विचारी जायेगी, तब स्थिर व पक्की हो जायेगी।।42।। मैं दैव के डर से यह वचन कहता हुआ भी लज्जाता हूँ अर्थात् मुझे इस वार्ता के कहने से लज्जा आती है।" सच है , पापियों के मन में कुछ होता है, वाणी में कुछ और कार्य में कुछ अर्थात् पापी और दुष्ट लोग सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं।।43।। काष्ठांगार की यह बात सुनकर कुलीन पुरुष तो निन्दा से डरे, संयमी प्राणी हिंसा करने से डरे और क्षुद्र व छोटे पुरुष दुर्भिक्ष व अकाल से डरे। इस तरह सारे सज्जन पुरुष भयभीत हो गये।।44।। उस समय धर्मदत्त नामक मंत्री अपने आप को नाश करने वाली वाणी बोला। क्योंकि स्वामी के विषय में जो भक्ति होती है, वह बड़ी भारी होती है और मनुष्य उस भक्ति के कारण अपने प्राणों की भी कुछ परवाह नहीं करता है।।45।। धर्मदत्त ने कहा,- " राजा ही प्राणियों के प्राण होते हैं। उनके जीते रहने पर प्राणी मात्र का जीवन निर्भर है। इस कारण राजाओं के विषय में जो कुछ इष्ट या अनिष्ट कर्म किया जाये, वह मानो सम्पूर्ण लोक के साथ इष्ट व अनिष्ट करना है।।46।। इस प्रकार जो राजद्रोह के करने वाले है, वे सकल द्रोह के उत्पादक हैं। क्या राजद्रोही पंचमहापातकों का करने वाला नहीं है? अवश्य है। अर्थात् वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचो महापापों का करने वाला है।।47।। इस लोक में राजा लोक देव और जीवधारी दोनों की रक्षा करते हैं। परन्तु देवता अपने आप की भी रक्षा नहीं कर सकते हैं। इससे सिद्ध है कि राजा ही सर्वोकृष्ट देवता है।।48।। और भी सुनो, - देवता तो केवल एक देवद्रोही मनुष्य को मारता है। परन्तु राजा तो राजद्रोही के वंश को बल्कि वंश के अतिरिक्त दूसरे संबंधी लोगों की भी तत्काल नष्ट कर डालता है।।49।। अर्थी जनों के जीवन का उपाय करने वाले और शत्रुओं का नाश करने वाले राजाओं की अग्नि के समान सेवा करनी चाहिये। जैसे अग्नि की यदि अनुकूल होकर सेवा की जाती है, तो उससे जीवन के उपाय भोजनादि बनते हैं और यदि उससे विरोध किया जाता है तो नाश का साधन होता है। इसी तरह से राजाओं से अनुकूलता प्रतिकूलता करने से लाभ हानि होती है"।।50।।

धर्मदत्त मंत्री का ऐसा धर्मयुक्त वचन भी उस दुष्ट कर्म वाले काष्ठांगार को मर्मभेदी व हृदयविदारक हुआ अर्थात् उसे बहुत ही बुरा लगा और कड़ुवा व कटु प्रतीत हुआ। सच है, पित्त ज्वरवाले को दूध भी तीखा भासता है।।51।। उसने कृतध्नतादि दोष

और गुरुद्रोह, और तो क्या अपनी निंदा का भी कुछ विचार नहीं किया। क्योंकि स्वार्थी लोग दोष को किंचित् मात्र भी नहीं देखते हैं।।52।।

काष्ठांगार का एक मथन नाम का साला था। उसने उसकी (काष्ठांगार की) बात को बहुत अच्छी समझी। अर्थात् राजद्रोह करने की बात की उसने बहुत प्रशंसा की। और उसका यह अच्छा मानना ही शत्रुता करने वाले के हाथ में दांता (हँसिया) आने के समान हुआ।।53।। खेद है कि, फिर उस दुष्ट बुद्धि वाले ने राजा को मारने के लिए सेना भेजी। क्योंकि मुँह में गये हुये दूध को या जो पी सकते हैं, या उगल सकते हैं, अर्थात् काष्ठांगार जब राजद्रोह की बात मुँह पर लाया, तब या तो वह उसे दबा जाता, पेट में रख लेता या खुलकर घात करने के लिए तैयार होता। तीसरा कोई मार्ग नहीं था।।54।।

राजा, दरबान के मुख से यह बात सुनकर क्रोध के मारे युद्ध के लिये उठ खड़ा हुआ। क्योंकि युद्ध में राजसी भाव स्थिर नहीं रहता अर्थात् प्रगट हुये बिना नहीं रहता।।55। परन्तु इसी समय राजा अपनी गर्भवती प्यारी स्त्री को अर्धासन से गिरी हुई और मृत प्राय देखकर फिर उल्टा आ गया। क्योंकि स्त्रियों का निरादर व अपमान नहीं सहा जा सकता।।56।। पृथ्वी पति राजा स्वयं जागृत होकर अपनी स्त्री को जागृत करने लगा क्योंकि पीड़ा के होने पर अर्थात् विपत्तिकाल में पीड़ितों को सच्चा ज्ञान जागृत होता है।।57।। बस, अब शोक नहीं करना चाहिये। पुण्य रहित पापियों के पाप का क्या फल नहीं होता? अर्थात् यह सब हमारे पापों का ही फल है। जब दीपक का प्रकाश जाता रहता है, तो फिर अन्धकार सन्तति को बुलाने की अपेक्षा ही क्या है? अर्थात् दीपक के बुझते ही अन्धकार आप ही आप आ जाता है।

इसी प्रकार पुण्य व धर्म का नाश होने पर पाप का उदय होता है और पाप का बुरा फल अवश्य ही मिलता है।।58।। यौवन जीवन, शरीर और धन ये सब नाश को प्राप्त हो जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जल के बुलबलों के बहुत देर तक ठहरने में आश्चर्य है। उनके नष्ट होने में कुछ अचरज नहीं है।।59।। जिनका संयोग हुआ है, उनका वियोग अवश्य होता है। और तो क्या इस अंगी का अंग के साथ भी योग नहीं रहता। अर्थात देही (जीव) देह छोड़कर इस संसार में अकेला चला जाता है।।60।। जब कि यह संसार अनादि है, तब किसी-किसी के साथ मित्रता नहीं है और किसी-किसी के साथ शत्रुता नहीं है। अर्थात् किसी न किसी पूर्व जन्म में हम सबके मित्र और शत्रु हो चुके हैं। इसलिये किसी को सर्वथा शत्रु और मित्र मानना कल्पना मात्र है। यह सब झूठी कल्पना है।।61।।

राजा के इस प्रकार धर्मयुक्त वचनों ने रानी के हृदय में घर नहीं किया। क्योंकि यदि जल हुई भूमि में बीज बोया जाये, तो उसमें अंकुर कदापि नहीं फूट सकते।।62।।

तदन्तर राजा ने अपनी गर्भवती रानी को केकियंत्र में बिठाकर स्वयं ही उस यंत्र को घुमा दिया। आह! दैव कैसा कठोर है?।।63।। इस यंत्र के आकाशमार्ग से ऊपर चले जाने पर राजा ने मोहवश होकर लड़ना प्रारंभ किया। परन्तु सहाय रहित अंगुली आप ही आप शब्द नहीं कर सकती। अर्थात् जब राजा के पास सेना आदि की सहायता नहीं रही, और स्त्री पुत्र भी न रहे, तब वह अकेला क्या कर सकता था?।।64।। निदान बहुत काल तक युद्ध करके राजा ने सोचा कि, वृथा प्राणियों की हिंसा करने से क्या लाभ होगा? और इस विचार से उसे वैराग्य हो गया। क्योंकि मन गति के अधीन होता है। अर्थात् जैसी गति होने वाली होती है, वैसा ही बुरा भला विचार सूझता है।।65।। हे आत्मन्! तूने अपने आपको इस विषयासक्ति के दोष में प्रवृत्त किया था, सो अब तू ही इस विषरूपी व हलाहल के समान विषयभोगादिकों में इच्छा करनी त्याग दे।।66।। हे आत्मन् तूने इस सब (राजपाट आदि) को पहले भोग लिया है और अब तू इसे फिर भोगना चाहता है। इसलिये यह तेरे पहला भोगा हुआ राज्य उच्छिष्ट है और इसीलिये तू इस उच्छिष्ट राज्य को तज दे। क्योंकि देहधारी प्राणियों के अनन्त जन्म होते हैं।।67।। यदि विषयभोगादिक चिरस्थायी होकर भी अवश्य नाश को प्राप्त हो जाते हैं, तो तुझे चाहिये कि , आप ही उन्हें छोड़ दे क्योंकि मुक्ति इसी में है। नहीं तो अनेक जन्मों में पड़कर दुःख भोगना पड़ेगा।।68।। जो पुरुष राज्य में रक्तचित्त रहता है, उसको वह राज्य छोड़ देता है और जो राज्य को छोड़ देता है, राज्य उसकी स्वयं सेवा करना चाहता है। इसलिये विवेकी पुरुषों को राज्य का त्याग ही करना चाहिये।।69।। इस प्रकार की भावना से राजा को उत्कृष्ट वैराग्य हो गया। निदान- वह उसी लड़ाई में सम्पूर्ण परिग्रह को और शरीर को छोड़कर दिव्य सम्पत्ति को अर्थात् स्वर्गलोक को प्राप्त हो गया।।70।।

सारे पुरवासी और देशनिवासी लोग उदास और विरक्त हो गये। क्योंकि नई व तुरन्त पीड़ा ही से मनुष्यों को बहुत वैराग्य प्राप्त होता है।।71।।

यह स्त्रियों के विषय में प्रीति व अनुराग बड़ा क्रूर व कठोर है। और जो लोग रागान्ध होकर इससे ठगाये जाते हैं, वे प्राज्य राज्य अर्थात् बड़े भारी ऐश्वर्य और प्राणों को भी त्याग देते हैं। सच है, रागी जन क्या नहीं छोड़ते? अर्थात् सब कुछ छोड़ देते हैं।।72।। बड़े खेद की बात है कि, मूर्ख जन स्त्रियों की जंघा के छिद्र में स्थित और मलमूत्र से भरे हुए

चमड़े से, विष्टा खाने वाले वाराहकी (सुअर की) तरह सुख मानते हैं। अर्थात् मूढ़ जन महा निकृष्ट विषयभोगादि में ही आनन्द समझते हैं।।73।। स्त्रियों के संग जो सुख प्राप्त होता है, वह बिना विचारे ही रमणीय प्रतीत होता है। परन्तु सोचें कि, वह सुख क्या है? कैसा है? कितना है? और कहाँ है? तो फिर वह सुख दुस्सह हो जाता है।।74।। निष्फला और दुष्फला बुद्धि अर्थात् फलरहित (व्यर्थ) और बुरे फलवाली बुद्धि निवारण किये जाने पर भी बुरे काम में प्रवृत्ति होती है और यत्न करने से भी अच्छे काम में प्रवृत्ति नहीं होती। बतलाओ, इसका क्या कारण है?।।75।। हे आत्मन्! यदि तू पाप का हेतू जानकर भी बुरी बातों के निवारण करने में असमर्थ है, तो यह समझना चाहिये कि, यह तेरे बुरे कर्मों की प्रभुताई है, जो तुझे बुरी बातों से हटाकर अच्छे कामों में होती है और यत्न करने से भी शुभ कार्य में प्रवृत्त नहीं होती, उसका हेतू पूर्वजन्म के दुष्कर्म हैं, और इसी हेतू से आत्मा भी वैसे ही कर्म करने लग जाता है।।76।।77।। यदि प्रतिदिन इस प्रकार का तर्क न किया जाये कि, मैं कौन हूँ? मुझमें कैसे गुण हैं? मैं कहाँ से आया हूँ? मैं क्या कुछ प्राप्त कर सकता हूँ? और मैं किस निमित्त के लिये हूँ? तो मनुष्य की बुद्धि पतित हो जाती है अर्थात् अनुचित कार्यों में प्रवृत्त रहती है।।78।। मोहनीय कर्म सम्पूर्ण कर्मो का बनाने वाला और धर्म का शत्रु है। इसी कर्म से मोह उत्पन्न होता है जिससे कि देहधारी मोहित होते हैं।।79।। हे आत्मन् तू क्या करने लगा था? और अब तू क्या करता है? बड़े खेद की बात है कि, तू अपने प्रारंभ किये हुए कार्य को छोड़कर बाह्य शरीरादि से मोह को प्राप्त होता है।।80।। हे आत्मन! यह इष्ट है? व अनिष्ट है, इस प्रकार वृथा संकल्प करता हुआ तू बाह्य पदार्थों में क्यों मुग्ध होता है? तुझे अपने अन्तरंग को अर्थात् मन को अपने वश में करना चाहिये।।81।। बड़े खेद की बात है कि, तेरा मन जो दोनों लोकों का बुरा करने वाला है, और जिसमें शान्त भाव नहीं है, उसको तो तू बुरा नहीं कहता है, और मूढ़ता से किसी दूसरे को शत्रु मानकर उससे द्वेष करता है।।82।। जैसे पुरुष औरों का दोष देखता है, ऐसे ही यदि वह अपना भी दोष देखे, तो उसके समान और कोई पुरुष नहीं। ऐसा पुरुष शरीर धारी होकर भी निश्चय करके मुक्त है। अर्थात् परदोषों की तरह निजदोषदर्शी पुरुष जीवन्मुक्त होता है।।83।।

जिस समय वहाँ के लोग इस प्रकार के विचारों में निमग्न हो रहे थे, उस समय वह मयूरमंत्र (जिसमें रानी बैठी हुई थी) आकाश में चला गया और निदान-उसने उस नगर के बाहर शमशानभूमि में विजया रानी को जा पटका। अभिप्राय यह कि, वह यंत्र उड़ते-उड़ते प्रेतभूमि में जा गिरा।।84।।

"पूर्व काल में श्रुति व शास्त्रों के द्वारा जो मनुष्यों के पापों की विचित्रता का वृत्तान्त सुनते थे, उसे अब अपनी आँखो से प्रत्यक्ष देख लो।" मानो यही बतलाती हुई रानी जो पहले लक्ष्मी के समान थी, अब कुछ भी नहीं रही।।85।। महारानी की यह दुर्दशा देखकर लोगों ने इस बात को सब प्रकार से निर्णय कर लिया कि, ऐश्वर्य अर्थात् धनसम्पत्ति क्षणमात्र में नष्ट हो जाती है। सत्य है, दृष्टान्त से ही बुद्धि वृद्धिगंत होती है। अर्थात् उदाहरण को देखकर ही ठीक-ठीक बात समझ में आती है।।86।। जो रानी दोपहर के पहले राजा की बड़ी आदरणीया थी, वही अब शमशाानभूमि की शरण में जाकर पड़ी है, इस कारण हे पण्डितों! पाप से डरो।।87।।

रानी ने मूर्च्छा के वश होकर प्रसूति की पीड़ा को नहीं जाना और उसी दिन प्रसव मास में अर्थात् नवें महीने पुत्र जना।।88।। इस समय में उसी स्थान में पुत्र के पुण्य से कोई देवी धात्री के (धायके) रूप में उसके पास आ बैठी। क्योंकि जब पुण्य का उदय होता है तब कोई भी बात दुष्प्राप्य नहीं होती है अर्थात् पुण्य का उदय होने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है।। 89।। उस धात्री को देखकर रानी के हृदय का शोकसागर उमड़ पड़ा। क्योंकि अपने बन्धुओं के निकट आने पर दुःख उन्मस्तक हो जाता है। अर्थात् और भी अधिकता से प्रकट होता है- उमड़ आता है।।90।। देवी ने बाल की भौंहों के मध्य में बालों का वृत्त (भौंरी) इत्यादि अनेक प्रकार के चिन्ह दिखाकर उसका माहात्य वर्णन किया और रानी को धीरज दिलाकर कहा।।91।। "हे देवि! तू पुत्र के पालन पोषण में तनिक भी चिन्ता न कर। इस क्षत्रीय पुत्र के योग्य तेरे पुत्र का कोई न कोई पालन पोषण अवश्य करेगा"।।92।। यह कहते ही कोई पुरुष ऐसा दिखाई दिया, जो अपने मरे हुए पुत्र को शमशान भूमि में रखने आया था और सत्यवक्ता योगीन्द्र के वचनानुसार वहाँ पुत्र को ढूँढता था।।93।। उसे देखकर रानी ने उसके (धाय के) वाक्य को ठीक प्रमाण समझा। क्योंकि स्थिर, विसंवादरहित,, अविरोधी और सत्यवाक्य से ही पदार्थ का निश्चय होता है।।94।। इसके अनन्तर रानी और कोई उपाय न देखकर उस देवी की प्रेरणा से अपने पिता की मुद्रा पहने हुए पुत्र को आशीर्वाद देकर अन्तर्ध्यान हो गई।।95।।

वैश्यों का अगुआ गन्धोत्कट जो कि वहाँ पुत्र को ढूँढता दिखलाई दिया था, उस राजपुत्र को देखकर तृप्त हुआ।

क्या ईंधन व निकृष्ट वस्तु को ढूँढने वाले मनुष्यों के हृदय में मणि जैसी उत्तम वस्तु देखकर प्रीति आनन्द उत्पन्न नहीं होता है? अवश्य होता है।।96।। गन्धोत्कट उस

पुत्र को गोद में लेकर हर्ष से रोमांचित हो गया और 'जीव' अर्थात् 'जीता रह!' इस प्रकार आशीर्वाद सुनकर उसने उसका नाम 'जीवक' व जीवंधर रख दिया। यह आशीर्वाद रानी ने अपने बेटे को वहाँ से अन्तर्ध्यान होते समय दिया था।।97।। इसके पश्चात् उसने घर जाकर अपनी स्त्री से क्रुद्ध होकर कहा- कि, तूने बिना मरे पुत्र को अज्ञान से मरा हुआ क्यों कह दिया और फिर आनन्दित होकर पुत्र को उसे सौंप दिया।।98।। वैश्य की स्त्री सुनन्दा ने भी पुत्र को देखकर आनन्द प्राप्त किया और हर्ष सहित अंगीकार कर लिया। पुत्र प्राणों के समान प्रीतिदायक होते हैं, और जो पुत्र मरकर फिर जन्म धारण कर लेते हैं, उनका तो कहना ही क्या है?।।99।।

इस पुत्र की माता अर्थात् विजया रानी अपने बन्धुओं के घर नहीं जाना चाहती थी। इसलिये वह देवी उसे दण्डकारण्य के बीच में स्थित तपस्वियों के आश्रम में ले गई।।100।। फिर उस तप करती हुई रानी को संतुष्ट और प्रसन्न करके देवी स्वयं किसी बहाने से चली गई। मनोकामना के सिद्ध होने पर किसका मन संतुष्ट नहीं होता है।।101।। बेचारी तपस्विनी रानी अपने मन रूपी घर में अपने पुत्र को रखती थी और जिन भगवान के चरणकमलों का भी ध्यान करती थी।।102।। बहुत सी रूई व कोमल वस्तुओं वाली कोमल शय्यापर, वृन्त (डंठल) सहित फूल से जो भी जिसे अत्यन्त खेद व दुःख होता था, उसी रानी को कुशा की सेज भी अच्छी लगी।।103।। अपने हाथ से भुने हुए जंगली धान्य ही इसका आहार व भोजन था और किसी अन्न से इसे कुछ प्रयोजन न था।। क्योंकि जो शुभ और अशुभ कर्म किये हैं, उनका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।।104।।

तदन्तर मूर्ख काष्ठांगार ने गन्धोत्कट के किये हुये उत्सव को (जो कि उसने अपने पुत्र के लिये किया था) अपने लिये समझकर अर्थात् यह जानकर कि मुझे राज्य मिलने की खुशी में इसने यह आनन्द मनाया है, प्रसन्नता से गन्धोत्कट को बहुत सा धन दिया।।105।।

उसी काल में उस नगर में जो पुत्र उत्पन्न हुए थे, गन्धोत्कट ने उनको भी काष्ठांगार की आज्ञा से लेकर अपने पुत्र का उन मित्र बालकों के साथ पालन-पोषण किया।।106।।

फिर गन्धोत्कट की स्त्री सुनन्दा के गर्भ से नन्दाढ्य नाम का एक बालक और उत्पन्न हुआ। इस बालक से जीवंधर और भी शोभित हुआ। क्योंकि अच्छा भाई कठिनता

से ही मिलता है।।107।। इस प्रकार यह सज्जन बन्धुओं का मित्र राजपुत्र प्रतिदिन बढ़ता हुआ निष्कलंक व निर्दोष शरीर के कारण कान्ति और तेज किरणों वाले चन्द्रमा से भी बढ़ गया।।108।।

तदन्तर अर्भक से शिशु अवस्था को पहुँचने की इच्छा करता हुआ सारे व्यसन व बुराईयों से दूर रहता हुआ, जीवंधर पांच वर्ष का हो गया। सच है, भाग्य उदय होने पर पीड़ा का क्या काम?।।109।। फिर अर्थरहित अस्पष्ट और तोतली अतएव अति मनोहर और प्यारी वाणी को छोड़कर वह अतिशय स्पष्ट वाणी वाला हो गया। क्योंकि स्त्रियाँ स्वयं ही अच्छे पुरुष को वर लेती हैं। अभिप्रायः यह है कि, वाणीरूपी स्त्री स्वयं ही जीवंधर की हृदय में स्फुरायमान हो गई।।110।।

इसके पश्चात् शुभपुण्य के उदय से कोई आर्यनन्दी नाम से प्रसिद्ध आचार्य जीवंधर कुमार के गुरु हुये। निश्चय करके गुरु ही देव होते हैं।।111।। फिर इस राजपुत्र ने निर्विघ्न सिद्धि प्राप्त करने के लिये पहले सिद्धों की पूजा की और नित्य अनादिनिधन) वर्णमाला के द्वारा पूर्ण विद्या सीखी।।112।।

श्रीमान् अजितसेन आचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में सरस्वती लम्बनामक पहला लम्ब समाप्त हुआ।

*****

द्वितीय लम्ब

तदन्तर मित्रगण से भूषित राजपुत्र किसी पाठशाला या विद्यालय में विद्याऽध्ययन हेतु प्रविष्ट हुआ और वहाँ पण्डित ने उसको सारी विद्यायें पढ़ा दीं। इस प्रकार वह बड़ा भारी पण्डित व विद्वान होग गया।।1।।

उसने गुरु के विषय में जो प्रीति, सेवा, शुश्रुषा और चतुराई प्रगट की, उससे उसको सारी विद्यायें याद सरीखी हो गई। अर्थात् जिस तरह भूली हुई विद्यायें याद हो जाती हैं, उसी तरह उसे सहज ही सब विद्यायें आ गयीं। क्योंकि गुरु की शिष्य की ओर प्रीति ही सकल इच्छाओं को पूरा करने वाली होती है। अर्थात् राजपुत्र ने विनय पूर्वक गुरु की सेवा की और उसकी आज्ञा के अनुसार सब कार्य किये, इससे गुरु ने प्रसन्न होकर प्रीति पूर्वक उसे पढ़ाया और सारी विद्याओं में पारगामी कर दिया।।2।। इस संसार में जितने पण्डित हैं, वे सब जीवंधर से पीछे हैं। अर्थात् जीवंधर अद्वितीय विद्वान् है। ऐसा निश्चय होने से आचार्य महाराज उस पर स्वयं ही बहुत प्रीति करने लगे।।3।। जबकि मनुष्यों को अपना काम चाहें बुरा भी हो, सफल होने पर अच्छा लगता है, तो फिर अच्छा काम क्यों न अच्छा लगे? और विद्या दान से बढ़कर उत्तम काम ही किया है? वह तो अच्छा लगना ही चाहिये।।4।।

एक दिन गुरु ने प्रसन्नचित्त होकर अपने पास बैठे हुये शिष्य से एकान्त में यह कहा।।5।। "शास्त्रविद्या से सुशोभित हे महाभाग! (उत्तम भाग्यवाले पुत्र!) यह किसी का वृतान्त सुनो, जो विचार करने से मन में अतीव दया को उत्पन्न करने वाला है।।6।। विद्याधरों के लोक में लोकपाल नाम का कोई राजा लोक की पालना करता हुआ अपना समय व्यतीत करता था।।7।। एक दिन उस महाराजा ने देखते-देखते ही शीघ्र नष्ट होते हुए मेघ को देखा। जिससे मानो यह प्रतीत हुआ कि, उन मतों का ऐश्वर्य क्षणमात्र नष्ट हो जाता है।।8।। उसे देखकर राजा को वैराग्य उत्पन्न हुआ क्योंकि मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्य जीवों के समय के विपाक पर संसार विषयक बातों में उदासीनता प्रकट हो जाती है। (जैसे कि विपाक काल में फल पक्कर आप ही आप गिर पड़ता है।।।9।। इसलिये इस पृथ्वीपति राजा ने राज्य का भार अपने पुत्र को सौंप कर गुरु से जैनमत की दीक्षा ग्रहण कर ली, जिसमें कि शरीर को भी हेय अर्थात् त्यागने योग्य समझा है।।10।। जब यह राजा तप करने लगा तब कुछ दिनों में इसको भस्मिक नाम का महारोग लग गया, जिससे खाया पिया क्षणभर में भस्म हो जाता था- क्षुधा बराबर बनी रहती थी और कदापि उदर तृप्ति नहीं होती

थी।।11।। ठीक ही है, थोड़ी सी तपस्या से दुष्कर्म का निवारण नहीं हो सकता। क्या गीला ईंधन तनिक सी चिंगारी से जल सकता है? अर्थात् नहीं जल सकता।।12।। शक्तिहीन होकर राजा ने राज्य की तरह, तप करना छोड़ दिया। सच है, "शुभ कार्यों में बहुत से विघ्न आ पड़ते हैं" यह पुरानी कहावत है, आज कल की नहीं है।।13।। पातकी व पापी पुरुष तप की आड़ में बैठा हुआ जो चाहे सो अपनी इच्छा के अनुसार करता है। जैसे कि झाड़ी की आड़ में छुपा हुआ नाफल नाम का पक्षी कुक्कट व छोटी-छोटी चिड़ियाओं को पकड़ा करता है।।14।। फिर वह राजा पंखड़ियों के तरह तप करके अपनी इच्छानुसार आचरण करने लगा। यह बड़े आश्चर्य की बात है। क्योंकि जैन मत की तपस्या तो स्वेच्छाचार की विरूद्ध है।।15।।

एक दिन यह भिखारी तपस्वी जो कि स्वयं रोग से पीड़ित था, तथा धर्म करने वाले पुरुषों के लिये एक बड़ा अच्छा वैद्य था, भूखा होकर गन्धोत्कट के घर गया।।16।। क्योंकि धार्मिक जन ही धार्मिक के यहाँ आकर शरण लेते हैं और दूसरे नहीं। इतर जन तो सांप नेवले की तरह उनके प्रकृति से ही शत्रु होते हैं।।17।।

तदन्तर हे पुत्र! भिक्षु ने उस घर में तुझ जैसे श्रेष्ठ पुत्र को देखा और तूने उसे देखकर जान लियां कि, वह भूखा है।।18।। उस समय तू भोजन करने लगा था। तूने पाकशाला के अध्यक्ष से कहा, कि इस भिक्षु को भोजन दे दो। तब उसने (पाकशालध्यक्ष ने) इसे भोजन दिया।।19।। परन्तु उस पाकशाला में जितना अन्न था, उससे उसकी उदरपूर्णता नहीं हुई। अहो! पापी के घोराकृति आशामुद्र की कौन पूर्ति कर सकता है?।।20।। इससे तूने भोजन करना छोड़ दिया और फिर विस्मयपूर्वक बैठे हुए तूने करूणा से व उसके पुण्य से प्रसन्नता पूर्वक अपने हाथ का ग्रास उसे दे दिया।।21।। उस ग्रास के खाने से उसी समय उस ब्रह्मचारी की जठराग्नि तृप्त हो गई। जैसे कि आशा का समुद्र निराशा से पूर्ण हो जाता है। अहो! पुण्य की बड़ी महिमा है।।22।। तब वह तपस्वी भी उसी क्षण तृप्त होकर चिरकाल तक यह सोचता रहा कि मैं इस महान् उपकारी का क्या प्रत्युपकार करूं?।।23।। फिर यह निश्चय करके कि इसका प्रत्युपकार परमोत्कृष्ट फलवाली विद्या ही है, उसने श्रीमान् चिरंजीवि को अर्थात् तुमको विद्वान बना दिया।।24।।

विद्या होने पर यदि वह दूसरों को दी जाये, तो भी बढ़ती रहती है, चोरादि इसे चुरा नहीं सकते, और मन की इच्छाओं को यह पूर्ण करती है।।25।। पाण्डितत्य व विद्या से ही कुलीनता, प्रभुता, सज्जनों द्वारा प्राप्त हुई पूजा और सभ्यता होती है, और तो क्या यही

कहना बहुत है कि, विद्वान का सब जगह आदर सत्कार होता है।।26।। मनुष्यो का पाण्डित्य जीवनपर्यन्त अभिनन्दनीय अर्थात् श्लाघ्य है, और मोक्ष का भी मार्ग है। जैसे दूध, क्षुधा की शान्ति भी करता है, और औषधि जैसा गुण भी करता है।।27।।

शिष्य ने गुरु से यह बात सुनकर अपनी वाणी से तो कुछ उत्तर नहीं दिया, परन्तु गुरुमुख की चेष्टा से ही उसके अभिप्राय को समझ गये। ठीक ही है, शिष्यपना और गुरुपना यही है, अर्थात् गुरुशिष्यों के बर्ताव ऐसा ही होता है।।28।। वह गुरु की शुद्धि अर्थात् विशुद्धता को जानकर उससे और भी अधिक प्रीति करने लगा क्योंकि प्राप्त किये हुये मणि की शुद्धि देखकर अधिक हर्ष होता है।।29।।

गुरु ऐसा होना चाहिये, जो तीनो रत्न अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र से युक्त हो, पात्र और योग्य पुरुषों में स्नेह रखने वाला हो, परोपकारी हो, धर्म का पालन करने वाला हो और भव सागर से पार उतारने वाला अर्थात् जन्ममरण के दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष प्राप्त करने वाला हो।।30।। शिष्य ऐसा होना चाहिये, जो गुरु की सेवा करने वाला, संसार के आवागमन से डरने वाला, नम्र, धार्मिक, अच्छी बुद्धिवाला, शान्तस्वभाव, अनालसी और शिष्ट अर्थात् शिक्षा ग्रहण करने वाला हो।।31।। जब गुरु विषयक भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है, तब उसके द्वारा और क्षुद्र वस्तुऐं क्या प्राप्त नहीं हो सकती हैं? अवश्यमेव होती हैं। क्या तुष अर्थात् भूसा (धान्यका छिलका) त्रिलोकी मूल्य वाले रतन के बदले में भी नहीं मिल सकता? अर्थात् जरूर मिल सकता है। गुरु भक्ति त्रिलोकी रत्न के बदले में भी नहीं मिल सकता? अर्थात् जरूर मिल सकता है। गुरु भक्ति त्रिलोकी रत्न के समान है।।32।। जो गुरु से द्रोह करने वाले हैं- कृतघ्न हैं, अर्थात् उपकार के बदले अपकार करते हैं, उनके सारे गुण नष्ट हो जाते हैं और उनकी विद्या बिजली की तरह क्षणभंगुर होती है। ठीक ही है, निर्मूल वस्तु बिना सहारे क्यों कर ठहर सकती है?।।33।। जो लोग गुरुद्रोही हैं, वे सब जगत् नाश करने वाले हैं और वे कभी विश्वास करने के योग्य नहीं हो सकते। जो जन गुरु के साथ द्रोह करने से नहीं डरते हैं, उन्हें औरों के साथ द्रोह करने में कुछ भी भय नहीं होता।।34।। इसके अनन्तर कृत्य के जानने वाले आचार्य ने विधि के अनुसार कृत्य करने वाले शिष्य को गृहस्थियों के सच्चे धर्म की शिक्षा दी अर्थात् श्रावकाचारी की सारी बातें बताईं।।35।। फिर गुरु ने उसे यह बताने के लिये कि, उसकी उत्पत्ति राजा के वंश से है अर्थात् वह राजा का पुत्र है, अनुग्रह करके सारा वृत्तान्त उसको सुना दिया।।36।।

जब गुरु के वचन द्वारा सत्यंधर के पुत्र को विदित हो गया कि, यह काष्ठांगार उसके पिता को मारने वाला है, तब तो वह क्रोध में आकर काष्ठांगार को मारने के लिए कवच पहिनकर तैयार हो गया। ।37।। पण्डित महाशय ने उसे बारम्बार निवारण भी किया, पर वह शान्त न हुआ। हाय! जब क्रोधी जन अपने आपका ही नाश कर डालते हैं, तब और क्या-क्या नहीं कर सकते हैं। ।38।।

गुरु ने जब उसे यह कहकर निवारण किया कि, "हे पुत्र! एक वर्ष के लिये और क्षमा कर, बस यही मेरी गुरुदक्षिणा है" अर्थात् तुझसे मैं गुरुदक्षिणा में केवल यही चाहता हूँ कि एक वर्ष तक तू काष्ठांगार को और भी मत छेड़, तब तो वह शान्त हो गया।

क्योंकि कौन सुजाखा (बुद्धिमान) पुरुष ऐसा है, जो गुरु के आदेश का उल्लंघन करे। ।39।।

गुरु ने क्रोध के समय उसकी पराधीनता देखकर फिर उसको इस प्रकार शिक्षा दी। क्योंकि गुरु की वाणी कुमार्ग व अधर्म का नाश करने वाली और सन्मार्ग व धर्म में प्रवृत्त करने वाली होती है। ।40।। "हे श्रेष्ठ पुत्र! तू मोह से विवश होकर इतना क्रुद्ध क्यों हुआ? विकार का कारण होने पर भी विकार उत्पन्न न हो इसी का नाम धीरता है। ।41।। यदि तू अपने बुरा करने वाले पर क्रोध करता है, तो तू क्रोध व कोप पर ही क्रोध क्यों नहीं करता? क्योंकि क्रोध-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और जीवन भी नाश करने वाला है। इसके समान बुरा करने वाला और कौन है?।।42।। क्रोधरूपी अग्नि अपने आप ही को अर्थात् क्रोधी को ही भस्म करती है, अन्य किसी वस्तु को भस्म नहीं करती। इसलिये जो पुरुष किसी दूसरे को भस्म करने की इच्छा से क्रोध करता है, वह अपने ही शरीर पर अग्नि का निक्षेप करता है। ।43।। यदि उत्कृष्ट और निकृष्ट व बुराई भलाई का ज्ञान न हो, तो शास्त्र में परिश्रम करना निष्फल है। जिस धान्य के बूटे में चावल नहीं हैं, उसके काटने में परिश्रम करने से क्या लाभ?।।44।। जो लोग तत्त्वज्ञान व शास्त्र के विरूद्ध आचरण करते हैं, उनके लिए तत्त्वार्थ का जानना व्यर्थ और निष्फल है। जो मनुष्य दीपक हाथ में होते हुए भी कुंए में गिरते हैं, उनके दीपक से क्या फल?।।45।। इस कारण तुझे तत्व-ज्ञान के अनुकूल इस प्रकार आचरण करना चाहिये कि, मोहादिक चोरों से बुद्धिरूपी धन न चुराया जाये, अर्थात् सोच विचार कर कार्य कर और अपनी बुद्धि को लोभ, क्रोध, मोहादिक के वश में न कर। ।46।। जो स्त्रियों के मुख से द्वार कर लेते हैं, अर्थात् स्त्रियों के द्वारा संबंध जोड़ लेते हैं, और अपने स्वार्थ मार्ग पर चलने के लिये उत्सुक रहते हैं, उन साँप के समान दुष्ट दुर्जनों

का साथ छोड़ देना चाहिये। साँप की और दुर्जनों की यहाँ पर समानता दिखलाई है। दुर्जनों के समान सांप भी स्त्रीमुख से अर्थात् बामी के मुख से द्वार तक लेते हैं, और अपने मार्ग पर चलने के लिये तैयार रहते हैं। सच है, दुष्ट पुरुष और सांप ये दोनों ही सबका नाश करते हैं।।47।। साँप के छूने से तो मनुष्यों का देहपात ही होता है, परन्तु दुष्टजन के संयोग से कुलीनता, प्रभुताई, पण्डिताई क्षान्ति (क्षमा) और यश आदि सब कुछ क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।।48।। दुष्ट पुरुष सारे लोक को दुष्ट बना देता है परन्तु सज्जन उसको सज्जन नहीं बना सकता। जैसे कि पदार्थों का नाश करना तो सुगम है पर उनका उत्पादन करना कठिन है।।49।। अच्छे पुरुषों को चाहिये कि, सबसे पहले यत्नपूर्वक सज्जनों की वन्दना करें। क्या अनायास से प्राप्त किया हुआ रत्न इस संसार में मिट्टी की तरह श्लाघ्य होता है? अर्थात् रत्न चाहे बिना परिश्रम के भी मिल जाये, पर वह सर्वथा श्लाघनीय (प्रशंसनीय) होता है। इसी प्रकार सज्जन पुरुष सदा पूज्य होते हैं।।50।।

और तो क्या सज्जनों का वचन अजलाशय से उत्पन्न हुआ अमृत है। अर्थात् अमृत जलाशय से (जड़रूप समुद्र से) उपजता है और वचनामृत अजलाशय अर्थात् सचेतन (अजड़ाशय) सज्जनों के मुख से उत्पन्न होता है। इस तरह सज्जनों का वचनामृत साक्षात् अमृत से भी उत्कृष्ट है। अन्य गुणों में समान है। क्योंकि जिस तरह अमृत से जागृति (चैतन्यता) और सौमनस्यत्व (अमरत्व) प्राप्त होता है, उसी तरह वचनामृत से भी जागृति और सौमनस्यत्व अर्थात् सज्जनता प्राप्त होती है।।51।। यौवन (जवानी) व युवा अवस्था, बल और ऐश्वर्य व प्रभुता ये हर एक विकार के करने वाले हैं और जहाँ ये तीनों इकट्ठे हों, वहाँ तो फिर कहना ही क्या है। इसलिये इनके होने पर भी चित्त में विकार नहीं होना चाहिये।।52।। कारण के मिलने पर भी सज्जनों का चित्त विकार को प्राप्त नहीं होता। जो मेंढक, गौ के खुर के जल में हलचल उत्पन्न कर सकता है, वह क्या समुद्र के जल को क्षोभित कर सकता है? कदापि नहीं। सज्जनों का चित्त समुद्र के समान गंभीर तथा स्थिर होता है। थोड़े से कारणों के मिलने पर वह विकृत नहीं होता है।।53।। देश, काल और दुर्जन यद्यपि कारण हैं, परन्तु अकेले वे क्या कर सकते हैं? यथार्थ में चलायमान बुद्धि ही विकार उत्पन्न करने वाली है। इसलिये अपने स्वभाव में स्थिर रहना चाहिये। क्योंकि चित्त की स्थिरता ही मुक्ति का कारण है।।54।। पुण्य क्षीण होने पर हजारों शिक्षाओं से भी धर्मबुद्धि नहीं उपजाती है। परन्तु पात्र में अर्थात जिसकी सत्ता में पुण्य विद्यमान है, उसमें बिना उपदेश के भी बुद्धि स्वयं स्फुरायमान होती है। इससे सिद्ध होता है कि, आप ही आपका गुरु है। अर्थात् दूसरे के उपदेशादि बुद्धि स्फुरायमान होने में मुख्य कारण नहीं

है।।55।। यह विचारना चाहिये कि, जो पुरुष धन में उन्मत्त हैं, वे सन्मार्ग व धर्म को न तो सुनते हैं, न जानते हैं और न उस पर चलते हैं। और चलते भी हैं, तो कार्य के अन्त तक नहीं चलते।।56।। गुरु इस प्रकार राजपुत्र को आशीर्वाद देकर और उसको धीर बन्धाकर स्वयं किसी न किसी प्रकार तप करने चले गये। क्योंकि लोक में प्राण निकलने के समय कोई उपाय नहीं हो सकता है। सारांश यह कि, गुरु महाराज किसी भी उपाय से नहीं रूके, तप करने के लिये चले गये।।57।। इसके पीछे वे दीक्षा लेकर तप करने लगे और उसके प्रभाव से नित्य आनन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त हो गये। क्योंकि विघ्नरहित कारणों से कार्य की सिद्धि होती ही है।।58।।

गुरुदेव के तपोवन में चले जाने से जीवंधर कुमार को बहुत शोक हुआ। माता-पिता में और गुरु में केवल गर्भाधन क्रिया की न्यूनता होती है। अन्य सब बातों में गुरु, माता पिता के ही समान है। इसलिये गुरु के चले जाने से जीवंधर ने अपने माता पिता के वियोग के समान ही शोक किया।।59।। फिर उसने तत्त्वज्ञान के जल से शोकरूपी अग्नि को बुझाया। क्या शीत के जागृत रहने पर कभी आतपक्लेश व धूप की पीड़ा हो सकती है? कदापि नहीं। सारांश यह कि, तत्त्व का विचार करने से उसका शोक शान्त हो गया।।60।। इसके अनन्तर जिस समय वह अपनी विद्या से विद्वानों के हृदय में, शरीर की कान्ति से स्त्रियों के हृदय में और शस्त्रकला की चतुराई से रथ में शोभित होता था, उस समय की प्रासंगिक बात कही जाती है।।61।।

एक दिन बहुत से ग्वाले राजा के आंगन में आकर खड़े हुए और इस प्रकार उच्च स्वर से चिल्लाए कि "व्याधों ने गौओं को रोक लिया है"।।62।। काष्ठांगार भी यह चिल्लाने का शब्द सुनकर बड़ा क्रुद्ध हुआ। क्योंकि यदि नीच पुरुष बड़ों का निरादर करें, तो वह सहा नहीं जाता।।63।। और उसने गायों के छुड़ाने के लिए एक सेना भेजी। परन्तु वह भी हार गई। क्योंकि अपने स्थान में शशा (खरगोश) हाथी से भी अधिक बलवान होता है। (कुत्ता भी अपनी गली में शेर होता है)।।64।।

तदन्तर व्याधों की सेना जीत गई, यह सुनकर (आभीरपल्ली) अहीरों के गांवो में भी खलबली पड़ गई। अर्थात् शत्रुओं से लड़ने के लिये अहीर भी उत्तेजित हो गये। क्योंकि आजीविका के नाश होने पर लोग किसी से भी नहीं डरते हैं।।65।।

उस समय उन व्याधों को जीतने के लिये एक नन्दगोप नामक पुरुष विचार करने लगा। क्योंकि जिन लोगों को किसी प्रकार की पीड़ा होती है, वे यही चिन्ता करते हैं कि,

क्या करना चाहिये और उससे क्या फल होगा? ।।66।। मनुष्यों को धन कमाने की अपेक्षा उसकी रक्षा करने में और रक्षा की अपेक्षा उसके क्षय हो जाने में उत्तरोत्तर अनन्त गुणी पीड़ा होती है।।67।। फिर भी यथाशक्ति उपाय करना चाहिये और यदि उपाय व्यर्थ पड़े, तो इसमें शोक करने से क्या लाभ होगा? कुछ भी नहीं। क्योंकि शोक न करना ही इसका उपाय है।।68।। यह विचार करके उसने यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि, जो वीर पुरुष इन वनवासी व्याधों को जीतेगा, उसे मैं अपनी पुत्री व सात अन्य कल्याणकारी पुत्रियां ब्याह दूँगा।।69।। सत्यंधर के पुत्र जीवन्धर ने यह सुनकर उस ढिंढोरे को बन्द करवा दिया। अर्थात् उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि, हम व्याधों को जीतकर तुम्हारे दुःख का निवारण करेंगे। क्योंकि उदात्त अर्थात् उदारचित्त पुरुष इस सारे लोक को अपने कुटुम्ब के समान समझते हैं।।70।। अब जीवकस्वामी अर्थात् जीवन्धर व्याधों को जीतकर पशुओं को ले आया। निश्चय करके पटबीजने (खद्योत) अन्धकार का नाश नहीं कर सकते, सूर्य ही कर सकता है। अभिप्राय यह है कि, जिन व्याधों को और कोई नहीं जीत सकता था, उन्हें जीवंधर ने जीत लिया।।71।। नन्दगोप भी गोधन को प्राप्त करके बड़ा हर्षित हुआ। क्योंकि प्राणियों के लिये धन प्राणों से भी अधिक श्रेष्ठ होता है।।72।।

तदन्तर उसने अपनी पुत्री जीवंधर स्वामी को देने के लिये जल छोड़ा, क्योंकि जो मनुष्य अत्यन्त स्नेह से अंधे हो जाते हैं, वे कृत्य-अकृत्य का विचार नहीं करते। अर्थात् वे यह नहीं सोचते हैं, कि यह काम करना चाहिये और नहीं करना चाहिये। नन्दगोप ने यह नहीं सोचा कि, जीवंधर ने भी "पद्मास्य इस कन्या के योग्य है" यह कह कर उसका छोड़ा हुआ जल ग्रहण कर लिया। अर्थात् उस कन्यादान के जल को उन्होंने स्वयं स्वीकार न करके अपने मित्र के लिये ग्रहण कर लिया। क्योंकि सज्जन पुरुषों की प्रीति अयोग्य कार्य में नहीं होती है।।74।। फिर यह कहा कि, हे मामा! (श्वसुर!) आप पद्मास्य को मेरे ही जैसा समझें। क्योंकि सच्ची मित्रता वही है, जिसमें शरीर मात्र की जुदाई होती है। और कुछ भी भेद नहीं होता है।।75।।

तदन्तर पद्मास्य ने अग्नि को साक्षी करके नन्दगोप के द्वारा प्रसन्नता पूर्वक दी हुई गोदावरी की बेटी गोविन्दा से विवाह किया। नन्दगोप की स्त्री का नाम गोदावरी था।।76।।

श्रीमान् अजितसेनाचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में गोविन्दालम्ब नाम का दूसरा लम्ब समाप्त हुआ।

तृतीय लम्ब

अब पद्मास्य तो गोविन्दा को ब्याह करके रमण करने लगा और राजकुमार शूरवीरतारूपी लक्ष्मी को प्राप्त करके क्रीड़ा करने लगा। इस विषय में यहाँ एक प्रासङ्गिक बात का वर्णन करते हैं।।1।।

उस नगर का अर्थात् राजपुरी का रहने वाला श्री दत्त नाम का एक वैश्य था। उसने धन प्राप्त करने की इच्छा प्राप्त की। क्योंकि कौन ऐसा पुरुष है, जिसको धन की आशा न हो? अर्थात् धन की आशा सबको होती है।।2।। फिर उसने धनोपार्जन का कारण और उसका फल सोचा। क्योंकि संसार के उपाय सोचने में मनुष्यों को कोई रोक नहीं होती।।3।। "बाप दादाओं का धन चाहे बहुत हो, पर उससे क्या? क्योंकि उद्योगी पुरुष को दूसरों के अन्न पर गुजारा करना अच्छा नहीं लगता।।4।। धन चाहे बहुत भी हो, पर जब आमदनी नहीं होती और उसी धन में से खर्च हुआ चला जाता है,, तब वह सारा धन खर्च होता है। क्योंकि निरन्तर भोग में लाने से तो पर्वत भी नष्ट हो जाता है।।5।। मनुष्यों के लिये दरिद्रता से बढ़कर दुःखदायक और पीड़ाजनक अन्य कोई वस्तु नहीं। क्योंकि दरिद्रता से प्राणी बिना प्राण त्याग किये मर जाते हैं। अर्थात् जीते जी मरे हुए हैं।।6।। जिसका हाथ खाली है, अर्थात् जिसके पास कुछ नहीं है, उसके सकल गुण जो प्रसिद्ध पाने के योग्य भी हों, प्रकाशित नहीं होते। अर्थात् दरिद्र के सारे अच्छे गुण भी नष्ट हो जाते हैं। और तो क्या दरिद्रता में विद्या भी हो, तो वह भी शोभा नहीं देती।।7।। दरिद्र निर्धनता से ठगाया जाकर कुछ भी नहीं कर सकता। और तो क्या दरिद्री पुरुष सर्वथा धनवान् के मुख की ओर कुछ मिलने की आशा से देखता रहता है।।8।। धन की प्राप्ति का फल यही है कि, उससे सज्जनों का पालन पोषण हो। देखो, यद्यपि निम्ब के फल कोए खाते हैं, फिर भी निम्ब का फल आम्रफल की तरह श्लाघनीय नहीं होता।।9।। असत् पुरुषों अर्थात् दुर्जनों की वस्तु दोनों लोक की हितकारी होने पर भी सुखदायक नहीं। जैसे कि, खारे समुद्र में गया हुआ नदी का जल भी खारा हो जाने से किसी काम का नहीं रहता।।10।।" इस प्रकार का विचार करके वह वणिक्यपति व वैश्य नाव में बैठकर चला। क्योंकि धन का चाहने केवल समुद्र का ही अवगाहन नहीं करता, वरन् पृथ्वी के अन्तर्भाग का भी अवगाहन करता है।।11।।

वह जलयात्रा करने वाला वणिक् कुछ दिनों के पीछे देशान्तरों से बहुत सा धन इकट्ठा करके उलटा फिरा। निश्चय करके जीवों के धन कमाने के कारण अतर्क हैं। अर्थात्

इस विषय में तर्क नहीं चल सकता है। यह समझ में नहीं आ सकता है कि किसको किस कारण से अथवा किस प्रयत्न से धन प्राप्त होगा।।12।।

जब वह नाविक (नाव में बैठा हुआ वणिक्) समुद्र के इस पार आ गया, जब यहाँ आने पर धारासंपात से अर्थात् जोर का मेघ बरसने से उसकी नाव क्षोभित हुई। क्योंकि विपत्ति का समय मनुष्यों को विदित नहीं हो सकता। अर्थात् न जाने कब विपत्ति की घड़ी आ जाती है।।13।। और नाव वाले उस नाव के समुद्र में डूब गये- उनके शोक का कुछ अन्त नहीं रहा। और फिर नाव का नाश होने पर तो उन्होंने परम दुःख का दृष्टान्त देखा।।14।। परन्तु वैश्वयात्री श्रीदत्त बुद्धिमान था, इसलिये वह किसी प्रकार घबराया नहीं। क्योंकि यदि मूर्ख और ज्ञानी दोनों घबरा जायें तो फिर मूर्ख और ज्ञानी में भेद ही क्या रहा?।।15।। "हे पंडितों! आगे आने वाली विपत्तियों के सोचने से तुम क्यों दुःखी होते हो? क्या सांप के भय से डरकर तुम साँप के मुँह में हाथ दे दोगे? अभिप्राय यह है कि, जो दुःख आने वाले हैं, वे तो आयेंगे ही। उनके सोच में पहले ही से दुःख में पड़ जाना कहाँ की बुद्धिमानी है?।।16।। विपत्ति का उपाय शोक करना नहीं है। 'न डरना' ही उसका उपाय है और वह न डरना अर्थात् निर्भयता तत्वों के जानने वालों के ही होता है। इसलिये हे बुद्धिमानों! तत्वों के जानने में प्रयत्न करो।।17।।" वह बुद्धिमान वणिक् नाव वालों को भी इस प्रकार शिक्षा और उपदेश देता रहा। क्योंकि यथार्थ ज्ञान मनुष्यों के लिये दोनों लोक में सुखकारी होता है।।18।। इतने में उसने नाश को प्राप्त हुई नाव में रस्सी बान्धने के एक काठ के टुकड़े को देखा। सत्य है, जब आयु शेष रहती है, तो प्राणियों के प्राण बच जाते हैं।।19।। तदन्तर श्रीदत्त उस लकड़ी के टुकड़े पर चढ़कर एक द्वीप व देश में पहुँच गया और वहाँ पहुँचकर बड़ा प्रसन्न हुआ। यदि मनुष्य का राज्य जाता रहे पर प्राण बच जाये, तो वह बड़ा संतुष्ट होता है।।20।। यद्यपि उसका इकट्ठा किया हुआ सारा धन जाता रहा था, फिर भी वह घबराया नहीं और वह सोचता रहा कि, आगे क्या करना चाहिये। जिस पुरुष में तत्वज्ञानरूपी धन होता है, उसका दुःख भी सुख के लिये होता है। अर्थात् यथार्थ ज्ञानी पुरुष दुःख में भी सुख अनुभव करता है।।21।। "हे मूर्ख आत्मन्! तृष्णा की अग्नि से पीड़ित होकर तू क्यों मोह को प्राप्त होता है? क्योंकि दोनों लोक के हित के नाश करने वाले पुरुष और तृष्णा से पीड़ित पुरुष में कुछ भेद नहीं है। अर्थात् जो पुरुष तृष्णा से व्याकुल और आशानिमग्न रहता है, वह दोनों लोकों में अपने हित व शुभ का नाश करने वाला है।।22।। हे आत्मन्! यदि तू दोनों लोक में अपनी भलाई चाहता है, तो आशा तृष्णा छोड़ दे। आशा से तेरे धर्म और सुख का नाश होता है। आशा करना मानो फल पाने की इच्छा से

वृक्ष का नाश करना है। धर्म और सुख को काटने वाली आशा फल के पाने वालों के लिए वृक्ष काटने के तुल्य है। अर्थात् ऐसी आशा के रहने पर धर्म और सुखरूपी फल आश्रय नष्ट हो जाने से कब उत्पन्न हो सकते हैं?।।23।। अहो! 'यह संसार असार है,' अब यह बात प्रत्यक्ष देख ली क्योंकि, किया कुछ और हो गया कुछ।।24।। इसीलिये बड़े-बड़े योगी और ऋषि मुनि बहुत सी धन सम्पदा वाली इन्द्र पदवी को भी छोड़ कर मुक्ति प्राप्त करने के लिये तप करते हैं ऐसे योगियों को नमस्कार करता हूँ"।।25।। इस प्रकार सोचता हूँ भी वह वाणिक् जो कोई मनुष्य दिख पड़ता, उससे अपनी पीड़ा का वर्णन करता था क्योंकि, जब तक मोहनीय कर्म का नाश नहीं होता है, तब तक योगियों को भी बीच-बीच में चपलता आ जाती है।।26।।

इतने में एक मनुष्य ने इस प्रकार से आकर उसकी सारी व्यथा सुनी, जिससे मालूम होता था कि, वह जान बूझकर नहीं आया है, अचानक ही आ गया है। सचमुच संसार का कोई भी व्यवहार मायारहित नहीं होता है।।27।। यह सब बात सुनकर और किसी बहाने से राजतभूधर अर्थात् विजयार्धगिरि पर ले जाकर उसने वणिक्पति से अपने आने का सारा कारण इस प्रकार वर्णन किया,।।28।।

"विजयार्ध पर्वत पर दक्षिणश्रेणी का मंडनरूप एक गान्धार नामका देश है। उस देश में नित्यालोका नाम की एक प्रसिद्ध नगरी है।।29।। उसी नारी का राजा गरुड़वेग तथा उसकी रानी धारिणी है और उनकी बेटी गन्धर्वदत्ता है, जो यवीयसी अर्थात् तरुण अवस्था को प्राप्त हो गई है।।30।। ज्योतिषियों नें गंधर्वदत्ता के जन्मलग्न में कहा था कि, 'पृथ्वी पर राजपुरी नगरी में यह एक वीणा विजयी की स्त्री होगी'।।31।। इस कारण राजा ने (जो मुझ पर बड़ी प्रीति रखता है) अपनी स्त्री से एकान्त में सलाह करके मुझे यह आज्ञा दी कि।।32।। ' हमारी श्रीदत्त से परम्परा की मित्रता है अर्थात् उसके और हमारे कुल में बाप दादाओं से मित्रता चली आई है। इसलिये जल्दी जाकर श्रीदत्त को यहीं ले आओ।।33।। मेरा नाम धर है। मैंने पराधीन होकर नाव के टूट जाने का भ्रम आपको दिलाया और फिर एक आवश्यक कार्य के कारण आपको यहाँ लाया हूँ।।34।।" श्रीदत्त भी यह बात सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। क्योंकि मनुष्यों को दुःख के पीछे सुख बहुत ही अच्छा लगता है।।35।। फिर वह वैश्य विद्याधरों के राजा गरूड़वेग को देखकर बहुत ही सुखी हुआ। अपने मित्र के और वो भी राजा-मित्र के देखने वाले से अधिक और कौन सुखी हो सकता है? एक तो सामान्य मित्र के दर्शन से ही बहुत सुख होता है, फिर यदि वह राजा हो,

तो कहना ही क्या है?।।36।। फिर उस विद्याधर ने अपनी बेटी को उसे सौंप दिया। क्योंकि मित्र ऐसा ही होना चाहिये, जो प्राणों में भी प्रमाण हो। अर्थात् प्राणों के देने में भी किसी प्रकार का धोखा न समझे।।37।। और उसे शीघ्र ही लौटा दिया। क्योंकि बेटी के जवान होने पर वृथा समय खोना ठीक नहीं।।38।। गृहस्थों का, कन्याओं का सावधानी से रक्षा करने का कष्ट बहुत ही पीड़ा देता है।।39।।

अब श्रीदत्त उस कन्या को साथ लेकर अपने नगर में आ गया और उसने उसकी सारी कथा अपनी स्त्री से कह दी। निश्चय करके स्त्रियों की बुद्धि खोटी ही होती है।।40।। फिर उसने राजा की आज्ञा लेकर छावनी में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि, यह मेरी सर्वोपमा योग्य पुत्री उसे विवाही जायेगी, जो वीणा बजाने में सबसे अधिक प्रवीण होगा।।41।। राजाओं की आज्ञा से जनों को निर्भयता होती है। यदि क्योंकि राजाओं की आज्ञा न हो, तो और बात तो एक ओर रही, पर सदाचारी पुरुषों का सदाचार भी स्थिर नहीं रह सकता।।42।। इतने में सारे राजा महाराजा वीणा मण्डप में आ पहुँचे। इस जगत् में ऐ कौन हैं, जो स्त्री के अनुराग से न ठगे जाते हों अर्थात स्त्री की प्रीति सबको खींच लाती है।।43।। वीणा बजाने में सारे राजा कन्या से हार गये। निश्चय जानो कि, असंपूर्ण विद्या कहीं-कहीं निरादर और अपमान का ही कारण होती है।।44।। पर जीवंधर कुमार ने उस कन्या को वीणा में जीता लिया। क्योंकि उत्तम व पूर्ण विद्या दोनों लोकों के फल देने वाली होती है।।45।। अब वह कन्या अपनी हार को जय से भी बढ़कर जानकर उसके पास आई। क्योंकि, लक्ष्मी पुण्यवालों को ढूँढकर उनके पास पहुँच जाती है।।46।। तदनन्तर उस केले के समान जंघावाली कन्या ने जीवक के हृदय में माला डाल दी। 'तप करो' मानो यही वह सबसे कहती थी।।47।।

काष्ठांगार ने यह देखकर और राजाओं को भड़का दिया क्योंकि दुर्जनो का यही लक्षण होता है कि, वे औरों के प्रताप और भाग्योदय को देखकर खेद करने लगते हैं।।48।। "वैश्य का बेटा जो सोने-चाँदी के सिवाय पीतल तांबे की धातुओं को मोल लेता और बेचता रहता है अर्थात् जो पैसों टकों का व्यवहार करता रहता है, राजाओं के योग्य ऐसी सुन्दर स्त्री को किस प्रकार ले ले? यह बड़े आश्चर्य की बात है।।49।।" इस प्रकार भड़काये जाने पर वे राजा युद्ध करने लगे। क्योंकि बुद्धि स्वभाव से ही अकार्य करने को तत्पर हो जाती है, फिर बुरी शिक्षा पाकर तो कहना ही क्या है? अर्थात् ऐसी अवस्था में तो बुरे कार्य में प्रवृत्ति होती ही है।।50।। परन्तु उस धनुर्धारियों के चक्रवर्ती से सब राजा हार

गये। हजारों कव्वों के एकत्र होने से क्या प्रयोजन निकलता है? उन सबके लिये तो एक पत्थर ही बहुत होता है।।51।।

सब सज्जन पुरुषों ने हर्ष से यह कहा कि, इस कन्या का मन योग्य पुरुष में आसक्त हुआ है। इस लोक में चन्द्रमा से ही अमृत की उत्पत्ति होती है, क्या यह आश्चर्य है? अर्थात् इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसे ऐसा ही योग्य वर वरना चाहिये था।।52।।

तदन्तर अग्नि को साक्षी देकर श्रीदत्त से दी हुई गन्धर्वदत्ता को जीवकस्वामी ने विधिपूर्वक ब्याहा।।53।।

श्रीमान् अजितसेनाचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में गन्धर्वदत्तालम्ब नाम का तीसरा लम्ब समाप्त हुआ।

*****

चतुर्थ लम्ब

तदनन्तर जीवंधर स्वामी अपनी स्त्री गन्धर्वदत्ता के साथ रमण करने लगा- सुख भोगने लगा। क्योंकि संसार में मनुष्य अपने योग्य वस्तुओं के ही भोगने से ही सुख का अनुभव करता है।।1।।

अब बसन्तऋतु ने नगर वासियों को जल की क्रीड़ा में लगा दिया अर्थात् बसन्तऋतु के आने पर नगर के सारे जन फाग खेलने लगे। जो लोग अनुराग से अन्धे होते हैं बसन्त ही उनका सखा व बन्धु होता है जैसे अग्नि का बन्धु-पवन।।2।। जीवंधर कुमार भी अपने मित्रों के साथ नदी के जल की यह नई क्रीड़ा देखने के लिये गया। क्योंकि संसार के मनुष्य सदा नई-नई वस्तुओं को ही चाहते हैं।।3।।

वहाँ पर कुछ ब्राह्मणों ने एक कुत्ते को, जिसके भोंकने से हवन दूषित हो गया था, जान से मार डाला। कठोर हृदय वाले और धर्म के विरोधी लोग क्या-क्या कार्य नहीं करते हैं अर्थात् वे सब कुछ नीच कर्म भी कर डालते हैं।।4।। हाय! अधर्मी पुरुष जीवों को बिना कारण ही मार डालते हैं और यदि उनके मारने में लेशामात्र कहने सुनने को कारण मिल जाये तथा कोई निवारण करने वाला न हो, तब तो फिर कहना ही क्या है?।।5।। कुमार ने कुत्ते की दुर्दशा और पीड़ा देखकर बड़ा खेद किया। करूणा व दया उसे कहते हैं कि, जिसमें औरों के दुःख में अपने दुःख की समान पीड़ा अनुभव की जाती है।।6।। उसने बहुत कुछ यत्न भी किया, पर उस कुत्ते को जीवित न कर सका। इसलिये उसने परलोक हेतु और कल्याण के लिये उस कुत्ते को (मरते समय) पंचणमोकार मन्त्र का उपदेश दे दिया।।7।। क्योंकि यदि समय पर यत्न न किया जाये, तो वह प्रायः सफल नहीं होता है। मोक्षमार्ग में जाने वालों के लिये यह मूलमंत्र ही उनकी मार्ग सामग्री है। उन्हें अन्य प्रकार की सामग्री से क्या प्रयोजन?।।8।। मंत्र की शक्ति से वह कुत्ता मरकर यक्षेन्द्र अर्थात् यक्ष जाति के देवों का इन्द्र हो गया। जैसे कि रसायन के योग से काला लोहा भी सोना हो जाता है।।9।। जिसको अन्तसमय में पाकर कुत्ता भी देवता हो गया, उस मूलमंत्र के कौन बुद्धिमान् नहीं जपेगा? अर्थात् वह मूलमंत्र सारे बुद्धिमानों को जपना चाहिये।।10।।

वह देव जो पहले कुत्ता था, कृतज्ञता के कारण जीवंधर कुमार के पास उसी समय आ गया। क्योंकि देवों के शरीर की उत्पत्ति अन्तर्मुहूर्त में हो जाती है।।11।। शुद्ध वाणी बोलने वाला और आनन्द से भरा हुआ वह यक्षेन्द्र देव कुमार को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ।

कौन चेतन प्राणी ऐसा है, जो उपकार को याद नहीं रखता? ।।12।। उसे देखकर जीवंधर स्वामी मंत्र की उत्कृष्टता व उत्तमता को विचार कर विस्मित नहीं हुआ। अर्थात् जीवंधर स्वामी ने इस बात को आश्चर्य नहीं समझा, क्योंकि मुक्ति के देने वाले मंत्र के कारण देवता योनि का मिलना कठिन नहीं है। जिस मंत्र से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, उससे देवगति मिल जाना तो बहुत ही सहज है।।13।। तदनन्तर हे महाभाग "मुझे याद रखना" यह कहकर वे देव अन्तर्ध्यान हो गया। चेतन प्राणी अपने उपकार करने वालों के लिये प्रत्युपकार अवश्य ही करता है।।14।। जब वह देव जीवंधर कुमार का बार बार आलिंगन करके और कुशल क्षेम पूछकर चला गया, तब वहाँ पर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन करते हैं।।15।।

सुरमंजरी और गुणमाला की चूर्ण के लिये परस्पर ईर्ष्या हुई। अर्थात् पहली दूसरी से कहने लगी कि देखें किसका पटवस्त्र अधिक सुगन्धित है? सत्य है, इस संसार में एक ही पदार्थ की इच्छा करने से किस-किसकी ईर्ष्या नहीं बढ़ती? अर्थात् सब यही चाहते हैं कि, मैं ही इस पदार्थ को ले लू व मेरी वस्तु औरों की वस्तुओं से अधिक श्लाघनीय हो।।16।। फिर उन दोनों सखियों ने आपस में यह शर्त थी कि, हम दोनों में जो कोई हार जायेगी, वह इस नदी के जल में स्नान न करने पायेगी। सत्य है, द्वेषभाव से क्या नाश नहीं होता है अर्थात् अपना अभीष्ट कार्य भी नष्ट हो जाता है।।17।। फिर उन्होंने दो दासी कन्याओं को सज्जनों के पास भेजा। सच है, मत्सर और द्वेष करने वालों को कैसा ही बुरा काम हो, वह भी अच्छा लगता है।।18।। सो ये दोनों दासियां चतुर और बुद्धिमान जीवंधर के पास जाकर पहुँची। क्योंकि प्रशंसनीय और निर्मल विद्या लोक में किस बात को प्रकाशित नहीं करती? अर्थात् उत्तम विद्या से इस लोक में सब बातों का निर्णय हो जाता है।।19।। तब जीवंधर ने गुणमाला के सुगन्धित द्रव्य को अच्छी तरह देखकर उसे गुणवाला बतलाया। अर्थात् गुणमाला के चूर्ण की प्रशंसा की (और सुरमंजरी के चूर्ण को गंध रहित बतलाया)। सच है, पदार्थों के गुण और दोषों का निर्णय करना ही पंडित्य है।।20।। सुरमंजरी की दासी यह बात सुनकर क्रोध में आ गई और बोली, - "जो औरों ने कहा था, वही आपने भी कह दिया। क्या आपको भी पढ़ा दिया है-सिखा दिया है?"।।21।। यह सुनकर जीवंधर स्वामी ने उन दोनों चूर्णों के गुण और दोषों का निर्णय भ्रमरों के द्वारा किया। सच है, यदि बुद्धिमानों के पास विवादरहित विधि न हो, तो फिर उनकी चतुराई ही क्या कहलावे?।।22।। उन्होंने दूसरे चूर्ण को अर्थात् सुरमंजरी के चूर्ण को बुरा बतलाया। क्योंकि वह अकाल में (बेसमय) बनाया गया था, इसलिये सुगंधि रहित हो गया था। ठीक है

- जो काम बेसमय किया जाता है, उससे कार्य की सिद्धी नहीं होती है।।23।। तदनन्तर वे दोनों दासियां कुमार की स्तुति और वन्दना करके चली गई। सत्य है, जो पुरुष सत्य का निर्णय विवाद रहित कर देते हैं, उनकी कौन स्तुति नहीं करता?।।24।। पर यह बात सुरमंजरी के विराग का कारण हो गई। क्योंकि जिसके मन में ईर्ष्या भरी हुई होती है, उसे न्याय की बात अच्छी नहीं लगती है।।25।।

गुणमाला ने सुरमंजरी से प्रार्थना भी की, पर उसने स्नान नहीं किया। वह बहुत क्रोध में आकर शीघ्र ही उल्टी चली गई। क्योंकि ईर्ष्या, स्त्रियों से ही उत्पन्न हुई है अर्थात् सबसे अधिक ईर्ष्या स्त्रियों में ही होती है।।26।। फिर "मैं जीवक के सिवा और किसी पुरुष को नहीं देखूंगी।" यह प्रतिज्ञा करके वह अपने घर चली गई। सच है, स्त्री के मन को कोई भी नहीं फेर सकता। (तीन हठ प्रसिद्ध हैं- त्रियाहठ, बालहठ और राजहठ)।।27।। सखी के इस प्रकार बिना नहाए उल्टा चले जाने पर गुणमाला उसके लिये बड़ी दुखी हुई। क्योंकि बात ऐसी दुःखमयी नहीं होती, जैसा कि अनिष्ट से संयोग और इष्ट से वियोग पीड़ाजनक होता है।।28।।

इतने में उस नगर के रहने वालों को एक गन्धहस्ती का डर हुआ। अर्थात् काष्ठांगार का एक हाथी छूट गया और उससे नगर निवासी भयभीत हुए। विपत्तियाँ तो पीड़ा देने वाली होती हैं, किन्तु मूर्खों को उनका डर भी पीड़ा देता है।।29।। तब हाथी को देखते ही गुणमाला के नौकर चाकर उसे अकेली छोड़कर चले गये। सत्य है, विपत्ति पड़ने पर मनुष्यों के बन्धु नहीं रहते हैं। अर्थात् विपत्तिकाल में सब अलग हो जाते हैं।।30।। परन्तु कोई धात्री दया से उसे (गुणमाला को) अपने पीठ पीछे करके आगे खड़ी हो गई और बोली कि, " पहले मैं मरूंगी और फिर यह कन्या मारी जायेगी"।।31।। सत्य है, इस संसार में बन्धु वे हैं, जो सुख दुःख के समय समान दिखाई दें विपत्काल में तो यम के दूत भी परे हट जाते हैं। अर्थात् दुःखी प्राणी को काल भी नहीं खाता है।।32।। इतने में जीवंधर स्वामी ने दांतों से प्रहार करने वाले उस हाथी को देखकर हटा दिया। सच है, परार्थ साधन में लगे हुए अर्थात् दूसरों का हित चाहने वाले सज्जन पुरुष अपनी विपत् को नहीं देखते हैं।।33।। दूसरों का हित चाहने वाले सज्जन पुरुष कहीं-कहीं अवश्य विद्यमान हैं। यदि कहीं भी सुजनता व साधु भाव न हो, तो यह संसार ही क्यों चले?।।34।।

तदनन्तर कुटुम्ब के लोग भी आप ही आप यह कहते हुए दौड़े आये कि, 'पहले मैं पहले मैं'। सत्य है, सुख में वे लोग भी बन्धु बन जाते हैं, जिन्हें पहले कभी देखा भी नहीं

था।।35।। उसी समय एक दूसरे को परस्पर देखकर कन्या और कुमार में प्रीति उत्पन्न हो गई। सत्य है कि, मनुष्यों को दुःख के पीछे सुख और सुख के पीछे दुःख होता है।।36।। निदान बांधकर वह कन्या जिसका अन्तःकरण काम पीड़ा से अशान्त और संतृप्त हो गया था ज्यों त्यों करके अपने घर जा पहुंची। सत्य है, यदि विवेकरूपी जल का प्रवाह न हो, तो रागरूपी अग्नि कैसे शान्त हो सकती है?।।37।। फिर घर आकर उसने स्वामी के पास क्रीड़ाशुक अर्थात् अपना पाला हुआ तोता भेजा। सत्य है कि, जो जन राग से अन्धे हो जाते हैं, उनमें योग्य और अयोग्य का विचार कहां रहता है? अर्थात् कामी जन यह नहीं विचारते हैं कि, हमें यह बात करनी चाहिये और यह नहीं करनी चाहिये।।38।। तोता भी उसे देखकर अपने अभिप्राय की सिद्धि के लिये चाटुकार अर्थात् खुशामद करने लगा। क्योंकि ऐसी खुशामद से ही दूसरे लोग वश में किये जाते हैं।।39।। "सारे विषयों में अपनी इच्छाओं को सदा सफल करते हुए, और अपने माननीय गुणों की रक्षा करते हुए अथवा सर्व जगत् में श्लधनीय गुणमाला को जीवनदान देते हुए तुम चिरकाल तक जीते रहो"।।40।। यह आशीर्वाद सुनकर कुमार भी उस तोते के संदेशे से बड़ा प्रसन्न हुआ। क्योंकि, इष्ट स्थान में वृष्टि के होने से अधिक प्रसन्नता और हर्ष होता है।।41।। फिर जीवंधर ने भी तोते को संदेश का प्रत्युत्तर दिया। क्योंकि जो पुरुष बुद्धिमान होते हैं, वे अपनी अपेक्षा करने वाले की उपेक्षा नहीं करते हैं। अर्थात् जो अपने से कुछ चाहता है, उसका तिरस्कार नहीं करते हैं- उस पर ध्यान देते हैं।।42।। गुणमाला भी पक्षी को पत्रसहित देखकर अति प्रसन्न हुई। क्योंकि अपना किया हुआ यत्न सफल होने पर अधिक प्रीतिदायक होता है।।43।। फिर उसके माता पिता भी यह बात सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए। क्योंकि इस संसार में भाग्यवान् और योग्य वर का मिलना बहुत कठिन होता है।।44।। इसके पीछे कोई दो अपरिचित प्रख्यात पुरुष गन्धोत्कट के पास आये। (और उन्होंने जीवंधर गुणमाला के संबंध के विषय में चुगली खाई) सत्य है, नीचों की मनोवृत्ति निश्चल नहीं रहती है। अर्थात् कुछ न कुछ बुराई करने में तत्पर रहती है।।45।। परन्तु गन्धोत्कट ने उन दोनों के वचन सुनकर, उनकी (जीवंधर गुणमाला की) प्रशंसा ही की। सत्य है, दोषरहित अभिप्राय दूसरे के कहने से दूषित नहीं होता।।46।। तदनन्तर जीवक ने कुबेर मित्र की दी हुई विनयमाला की बेटी गुणमाला से विधिपुर्वक विवाह किया।।47।।

श्रीमान् अजितसेनाचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़ामणिग्रन्थ में गुणमालालम्ब नाम का चौथा लम्ब समाप्त हुआ।

*****

पंचम लम्ब

अब जीवंधर कुमार ने गुणमाला से विवाह करके उसे अतिशय दुर्लभ्य समझा। वे उससे बहुत स्नेह करने लगा। सत्य है, जो वस्तु यत्न से प्राप्त होती है, वह बड़ी प्यारी लगती है।।1।।

स्वामी ने पहले गुणमाला को बचाते समय उस गन्धहस्ती को कड़ा मारा था। इस कारण उस हाथी ने पीड़ित होकर खाना नहीं खाया। सत्य है, पशुओं को भी तिरस्कार सहा नहीं जा सकता अर्थात् पशु भी अपना तिरस्कार नहीं सह सकते।।2।। काष्ठांगार यह सुनकर स्वामी पर बड़ा क्रुद्ध हुआ। क्योंकि अग्नि में घी डालने से उसकी ज्वाला और अधिक बढ़ती है।।3।। अनङ्गमाला वाराङ्गणा का जिस पर कि, काष्ठांगार आसक्त था, संग करने से, गोधन के चुराने वाले व्याधों को जीतने से, वीणा विजयी होने से काष्ठांगार के हृदय में क्रोध की अग्नि स्थापित हो गई थी।।4।। किसी में गुणों की उत्कर्षता को देखकर नीच जनों के मन में पीड़ा ही उत्पन्न होती है। और यदि गुणों को देखकर प्रीति ही उत्पन्न हो, तो फिर नीचता ही क्या रहे?।।5।। नीच मनुष्यों के साथ उपकार करना भी अपकार का कारण होता है। जैसे कि सांप को दूध पिलाने से विष की वृद्धि होती है।।6।। निदान-काष्ठांगार ने सेना भेजी कि, कुमार का हाथ पकड़कर उसे ले आवे। बड़े खेद की बात है कि, मूर्खों की क्रोधरूपी अग्नि अनुचित स्थान में भी बढ़ती है। अर्थात् जहाँ क्रोध नहीं करना चाहिये, मूर्खजन वहाँ भी क्रोध करते हैं।।7।। उस सेना ने कुमार के घर को चारों ओर से घेर लिया परन्तु यदि हरिण सिंह के चारों ओर से घेर कर खड़े हे जायें तो वे उसका क्या कर सकते हैं?।।8।। यह देख कुमार भी क्रोधवश होकर सेना को मारने का समारंभ करने लगा। सत्य है, यदि तत्त्वज्ञान रूपी जल न हो, तो क्रोध की अग्नि कौन बुझा सकता है?।।9।। तब गन्धोत्कट ने धीरे से समझा बुझाकर उसे कवच पहिनने से रोक दिया। अर्थात् उसे कवच पहिनकर सेना को मारने के लिये जाने से रोक दिया। और जीवंधर को रुक जाना पड़ा। क्योंकि हित व मंगल को चाहने वाले पुत्र पिता के वचन को कभी उल्लंघन नहीं करते।।10।। फिर गन्धोत्कट ने जीवंधर कुमार को पीछे की ओर से मुष्कें बाँधकर सेना को सौंप दिया। सत्य है, पुरुषार्थ से भी पिछले जन्म के दुष्कर्म निवारण नहीं हो सकते।।11।। उसको ऐसी दशा में देखकर भी दृष्टबुद्धि काष्ठांगार ने उसे मार डालने का लिये आज्ञा दे दी। सत्य है कि, सज्जन मनुष्य तो शान्ति प्रकट करने के लिये नम्र हो जाते है। पर उनकी इस नम्रता से दुष्ट जन और भी अधिक उद्धत और अभिमानी हो

जाते हैं।।12।। उस समय कुमार ने गुरु की आज्ञानुसार काष्ठांगार को नहीं मारा (यदि वह चाहता, तो मार सकता था)। क्योंकि चाहे प्राण जाते रहें, पर बुद्धिमान पुरुष गुरु के वचन का, उल्लंघन नहीं करते हैं।।13।। स्वामी जानता था कि, 'मुझे अब क्या करना चाहिये' इसलिये उसने यक्ष को यादि किया, जिससे कि यक्ष तत्काल ही आकर उसे उठा ले गया। सत्य है कि, चेतन पुरुष उपकार के बदले प्रत्युपकार क्यों न करें? अर्थात् अवश्य ही करते हैं।।14।।

फिर लोगों ने अत्यन्त शोकाकुल होकर यह विचार किया - वस्तुतः यह जो कहावत प्रसिद्ध है कि 'लोग गुणों के पहचानने वाले होते हैं' सो बिल्कुल सच्ची है।।15।। "दुष्ट बुद्धिवाले काष्ठांगार की यह बड़ी भारी धूर्तता है। परन्तु अपने स्वामी राजा के साथ भी द्रोह करने से जो नहीं डरते, उनको तो इतनी धूर्तता कुछ भी नहीं। अर्थात् वे तो इससे भी अधिक धूर्तता कर सकते हैं।।16।। हाय! यम वा धर्मराज भी जो सबके साथ एकसा बर्ताव करता है, नीच राजा की तरह दुराचारी हो गया। बड़े खेद की बात है कि, वह भी निःसार समझकर दुर्जनों को नहीं लेता।।17।। जैसे हंस पक्षी पानी में से साररूप दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार से सज्जन पुरुष जो कुछ सुनते हैं, उसमें से सार ग्रहण कर लेते हैं और दुष्ट पुरुष अपनी रुचि के अनुसार काम करते हैं।।18।। सुजनता का लक्षण यही है कि, और किसी हेतु पर ध्यान न देकर गुण और दोष के होने पर केवल गुणों को ग्रहण कर ले और दोषों को त्याग दे। जैसे हंस दूध को पी लेता है और पानी को अलग कर देता है।।19।। बड़ा भारी बुद्धिमान् पण्डित और प्रतापी राजा होकर भी यदि योग्य और अयोग्य का विचार करके युक्तिसिद्ध और उचित कार्य से विमुख हो जाये- अर्थात् उसको न करे, तो ऐसे पण्डित्य और ऐश्वर्य होने का क्या फल? अर्थात् कुछ भी नहीं"।।20।। जब यह विचार करके सारे लोग मन में पीड़ित हो रहे थे, तब कुमार के सारे मित्र उसके भाई नन्दाढय सहित पश्चाताप करने लगे और फिर युद्ध करने के लिये तैयार हो गये।।21।। तथा उसके माता पिता मुनि के वाक्य को याद करते हुए जीते रहे। यदि मुनि का वाक्य भी झूठा हो गया, तो फिर किसी का वचन भी प्रमाण नहीं रहेगा।।22।। उस समय स्वामी को हर्ष वा खेद कुछ भी नहीं हुआ, किन्तु पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना है, यही विचार उनके मन में उत्पन्न हुआ।।23।।

तदनन्तर वह यक्षेन्द्र जीवंधरस्वामी को चन्द्रोदय पर्वत पर अपने घर ले गया और वहाँ उसने उन्हें जल से स्नान करवाया।।24।। यहाँ यही समझना चाहिये कि पुण्य कर्म के

उदय से विपत्ति सम्पत्ति का कारण हुई। जैसे कि, सूर्य संसार को तो धूप से तापता है, पर कमल को खिलाकर शोभायमान् कर देता है।।25।। यक्षेन्द्र ने स्वामी का क्षीरसागर के जल की धारा से अभिषेक करके कहा कि, तुमने मुझे कुत्ते की अवस्था में पवित्र किया था, इसलिये तुम पवित्र हो।।26।। फिर उसने स्वामी को तीन मंत्र उपदेश किये, जिनसे वे अपनी इच्छा के अनुसार जैसी आकृति चाहते ग्रहण कर सकते, गायन विद्या में विशारद हो गए, और साँप का विष दूर करने में समर्थ हो गये।।27।। और उसने यह भी कहा कि "हे पवित्र स्वामी! तुम एक वर्ष में राजा हो जाओगे और फिर मोक्ष को प्राप्त करोगे"।।28।। इस प्रकार यक्षेन्द्र ने स्वामी का बहुत समय तक आदर सत्कार किया। फिर स्वामी को और देशों के देखने की इच्छा हुई। सत्य है, जो बात होने वाली होती है, वही मन में उपजती है। अर्थात् भावी अटल है, वही सब कुछ कराती है।।29।। और विद्वान कुमार की इच्छा को जानकर उनका हित चाहने वाले देव ने भी उन्हें सम्मति दे दी। क्योंकि देवता तीनों काल की बातें जानते हैं।।30।। इस प्रकार आगे के मार्ग का सारा वृतान्त बताकर यक्षेन्द्र सुदर्शन ने उन्हें जाने की सम्मति दे दी और सम्मति पाकर स्वामी चले गये। क्योंकि मित्रता हित के लिये होती है।।31।।

इसके पश्चात् स्वामी निडर होकर इधर उधर अकेले विहार करते रहे। क्योंकि अपने पराक्रम से अपना रक्षा करने वाले पुरुषों को सिंहो की तरह कुछ भी डर नहीं होता है।।32।। अकेले होने पर भी उन जितेन्द्रिय स्वामी को जरा भी उद्वेग नहीं हुआ। क्योंकि सम्पत्ति और आपत्ति के लेश से अर्थात ऐश्वर्य और दरिद्रता के प्राप्त होने से मूर्खों के ही चित्त में विकार उत्पन्न होता है। बुद्धिमानों के चित्त में नहीं।।33।।

आगे किसी वन में दावाग्नि से घिरे हुए और अग्नि में जलते हुए हाथियों को देखकर स्वामी ने उन्हें बचाने की इच्छा की।।34।। दया धर्म का मूल है और जीवों पर कृपा करने व तरस खाने को दया कहते हैं। इसलिये धर्मात्माओं का लक्षण यह है कि, जिनका कोई आश्रय वा सहारा नहीं है, उनको शरण दें व उनकी सहायता करें।।35।। उसी समय मेघ गरजे और बरसे। अहो! निश्चय करके पुण्यवानों की इच्छा वा मनोकामना सफल ही होती है।।36।। उन हाथियों को बचा हुआ देखकर तो जीवंधर बहुत की संतुष्ट हुए। परन्तु आप अपने बन्धन और विमोक्ष में उदासीन रहे। अर्थात् दावाग्नि में अपने फंस जाने और फिर उससे बच जाने के ख्याल से उन्होंने न तो शोक किया और न हर्ष मनाया।।37।। सज्जन पुरुषों का यह स्वभाव ही है कि, वे अपने सम्पत्ति और आपत्तिकाल में तो मध्यस्थ

रहते हैं परन्तु दूसरों की सम्पत्ति में सुखी और उनकी विपत्ति में दुःखी होते हैं।।38।।

फिर स्वामी वहाँ से निकलकर तीर्थों में पूजा करने गये। क्योंकि वस्तुओं का अच्छा व बुरापन और खोटा न खरापन उनके संसर्ग से व पास जाने से ही प्रतीत होता है।।39।। वहाँ पर धर्म की रक्षा करने वाली एक यक्षिणी ने आकर इन धर्ममूर्ति कुमार का भले प्रकार अन्नवस्त्र प्रदान करके आदर सत्कार किया।।40।। और लोग तो क्या देवता भी धर्मात्मा पुरुषों की पूजा करते हैं। इसलिये सुख चाहने वालों को धर्म में प्रीति रखना चाहिये।।41।।

फिर वे स्वामी चलते-चलते पल्लवदेश की चन्द्राभा नाम नगरी में शुभ निमित्त से गये। क्योंकि आगे होने वाली बात का कुछ न कुछ निमित्त व कारण अवश्य ही होता है।।42।। वहाँ उन्होंने राजा धनपति की पुत्री को जिसे सांप ने डस लिया था, जीवनदान दिया। सत्य है, सज्जनों का स्वाभाविक गुण यही होता है कि, बिना हेतु दूसरों की रक्षा करें।।43।। उस पुत्री के बड़े भाई लोकपाल ने यह देखकर स्वामी का बड़ा आदर सत्कार किया। क्योंकि जीवनदान देने वालों का और कोई प्रत्युपकार नहीं है।।44।। सज्जन पुरुष स्वयं पूज्यनीय होते हैं और दूसरे सज्जनों के पूजक भी होते हैं। क्योंकि पूज्य की पूजा का उल्लंघन करने पर पूजा क्या? अर्थात् जो पूज्य की पूजा नहीं करते, वे भी पूजने के योग्य नहीं है।।45।। बुद्धिमानों के आगे नम्रता अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि नम्रता से ही आत्मा वशीभूत होती है। धनुष के नवाने से ही धनुर्धारियों का मनोरथ सिद्ध होता है।।46।। उस लोकपाल ने जीवंधर स्वामी के शरीर को देखते ही उनके ऐश्वर्य का निर्णय कर लिया। सत्य है, चेष्टा के जानने वालों को, लोगों का शरीर ही उनका दौरात्म्य (दुर्जनता) और महात्म्य कह देता है।।47।। तदनन्तर राजा ने अपना आधा राज्य और कन्या स्वामी को दे दी। सत्य है, लक्ष्मी योग्य पुरुष के पास आप ही आप चली आती है।।48।। और पवित्र जीवंधर स्वामी ने लोकपाल के द्वारा दी हुई तिलोत्तमा की बेटी पद्मा के साथ, जो कि युवती थी, विवाह कर लिया।।49।।

श्रीमान् अजितसेनाचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में पद्मालम्ब नाम का पाँचवा लम्ब समाप्त हुआ।

*****

षष्ठ लम्ब

तदनन्तर पद्मा से विवाह करके और उसके साथ कुछ समय सुख भोगकर जीवंधर स्वामी वहाँ से चले गये। सत्य है, धर्मात्मा पुरुष कृतार्थ होने पर भी सुख को विरक्त होकर भोगते हैं।।1।। पद्मा अपने पति के वियोग दुःखसागर में डूब गई। क्योंकि जिनको सम्यग्ज्ञान नहीं होता है, वे सदा दुःख ही भोगते हैं।।2।। लोकपाल के नौकर चाकर कुमार को ढूँढने भी गये, पर वे उन्हें रोक न सके। क्योंकि बुद्धिमान लोग जो काम प्रारम्भ करते हैं, दूसरे लोग उसे रोक नहीं सकते। अथवा उस कार्य में कुछ विघ्न नहीं डाल सकते।।3।।

तदनन्तर शीघ्र चलने वाले स्वामी ने तीर्थों की पूजा की। क्योंकि स्थान भी महापुरुषों के संबंध से पवित्र हो जाते हैं।।4।। जिस पृथ्वी पर सज्जन और महात्मा पुरुष रह चुके हैं, वह पृथ्वी पूजने के योग्य है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि काला लोहा भी रसायन के योग से सोना बन जाता है।।5।। सज्जनों और दुर्जनों की संगति से ही मनुष्य सज्जन और दुर्जन होते हैं। इसलिये सज्जन पुरुष सदा सज्जनों से ही मिलें और दुर्जनों से परे रहें।।6।।

फिर जीवंधर तीर्थस्थानों में फिरते हुए और उनकी पूजा करते हुए क्रम क्रम से अरण्य के मध्य में तपस्वियों के आश्रम में पहुँचे।।7।। वहाँ अनुचित और असत् तप देखकर वे तपस्वियों पर दया करने लगे। क्योंकि जो लोग सबके हितकारी होते हैं, वे सारे प्राणियों पर सच्ची दया करते हैं।।8।। जिसको यथार्थ ज्ञान नहीं है, तत्त्वार्थ के जानने वाले उस पर भी दया करते हैं। सत्य है कि, जो बालक कुंए में गिरना चाहता है, उसका उद्धार कौन नहीं करना चाहता? अर्थात् उसे सब ही कुंए में गिरने से बचाते हैं।।9।। तत्त्वों के जानने वाले स्वामी ने आदरपूर्वक उनको भी यथार्थ तत्त्व का बोध कराया। सुनने वाला भव्य हो चाहे न हो, अर्थात् अभव्य हो, परन्तु सज्जन पुरुषों का चित्त दूसरों का उपकार करने की ही ओर रहता है।।10।। वेद का यह वाक्य है कि "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" अर्थात् "किसी प्राणी की हिंसा मत करो।" तो फिर हे बुद्धिमानों! तुम ऐसा तप क्यों करते हो, जिसका फल केवल हिंसा ही है।।11।। जल में स्नान करते समय जो जीव जटा में लग जाते हैं और लकड़ी में प्रविष्ट हुए जीव भी जो फिर अग्नि में गिर पड़ते हैं, उन्हें तुम अपनी आंखों के सामने नष्ट होते हुए देखते हो।।12।। इसलिये पंचाग्नि तप करना सर्वथा निकृष्ट और अनुचित है। इस तप में जन्तुओं का वध अर्थात् जीवहत्या होती है, इसलिये यह तप जन्ममरण रूप संसार का कारण है- मोक्ष का हेतु नहीं है।।13।। तप वही है,

जिसमें जीवों को कदापि संताप व पीड़ा न हो, और वह तप खेती व्यापारादि आरंभो के त्याग करने से होता है। क्योंकि आरंभ से हिंसा होती है।।14।। और आरंभ की निवृत्ति अर्थात् त्याग निर्ग्रन्थ मुनियों में ही होता है। क्योंकि पृथ्वी में जो लोग कार्य से विमुख होते हैं, वे कारण की खोज नहीं करते हैं। अर्थात् जिन्हें कोई सांसारिक कार्य करना ही नहीं होता, वे उनके कारण आरंभादि भी नहीं करते हैं।।15।। यतिधर्म व आरंभत्याग ही वास्तविक तप है। इसके अतिरिक्त और जो कुछ है, वह संसार अर्थात् जन्ममरण का साधक है। जो लोग मोक्ष चाहते हैं, वे और तो क्या अपने शरीर को भी तुच्छ समझते हैं।।16।। संसार तो रागद्वेषादि दोषों में फँसाने वाला है। इसलिये उससे परिक्षय अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो वस्त्र रूधिर से दूषित हो, क्या वह रूधिर ही से शुद्ध हो सकता है? कदापि नहीं।।17।। जिन लोगों को यथार्थ तत्वज्ञान नहीं है उनका यति होना भी निष्फल है। जैसे कि जल, अग्नि, थाली आदि सामग्री के होने पर भी जब तक चावल न हों, अन्न नहीं पक सकता।।18।। जीवादि तत्वों का (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इस सातों तत्वों का) यथार्थ निश्चय होना, अर्थात् उनका जो स्वरूप है, उसे उसी रूप जानना सम्यग्ज्ञान है। और लोक में इससे जो विपरीत ज्ञान है, उसको मिथ्याज्ञान का मिथ्यात्व कहते हैं।।19।। सच्चे जिनेश्वरदेव व उनके उपदेश किये हुए शास्त्र और जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ इन तीनों के यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इनमें रूचि व श्रद्धा होने को सम्यग्दर्शन कहते हैं और इन दोनों को अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को अपनी आत्मा में अस्खलित वृत्ति से धारण करने को व आचरण करने को सम्यग्चारित्र कहते हैं।।20।। यह त्रयी अर्थात् सम्यग्दर्शन, सर्म्यज्ञान और सम्यक्चारित्र कहते हैं।।20।। यही त्रयी अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग है। इससे भिन्न और कोई मार्ग नहीं है। इनके अतिरिक्त जो सब बाह्य तप हैं, सो इन्हीं तीनों के साधक हैं। (बाह्य तप छः प्रकार हैं- 1. अनशन अर्थात् उपवास रखना, 2. ऊनोदर अर्थात् थोड़ा खाना, 3. वृत्तिपरिसंख्यान अर्थात् किसी एक अन्न का ग्रहण करना व भोजन में किसी प्रकार की आखड़ी लेना, 4. रसपरित्याग अर्थात् घी, दूध आदि रसों में से किसी एक के अथवा दो तीन व सम्पूर्ण रसों के खाने का त्याग करना, 5. विविक्तशय्यासन अर्थात् किसी एकान्त स्थान में नियत आसन में रहना, और 6. कायक्लेश अर्थात् शीत उष्णतादि शारीरिक कष्ट सहन करना)।।21।। बाह्य तप के बिना अभ्यन्तर तप नहीं हो सकता। जैसे कि अग्नि आदि के बिना चावल पक नहीं सकते। (अभ्यन्तर तप भी छः प्रकार का होता है- 1. प्रायश्चित अर्थात् व्रतों के पालन में

जो दूषण हुए हैं, उनको गुरु के आगे सच्चे मन से प्रकाशित करना और दिये हुए दण्ड को संतोष से सहना, 2. विनय और नम्रता, 3. वैयावृत्ति अर्थात् टहल सेवा, 4. स्वाध्याय अर्थात् पढ़ना, विचारना आदि, 5. व्युत्सर्ग अर्थात इन्द्रिय और क्रोधादिक का वश में करना, और 6. ध्यान अर्थात आत्मा में चित्त की एकाग्रता)।।22।। और झूठे देवों शास्त्रादि गोचर जो, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं, सो मोक्ष के साधन नहीं हैं। क्योंकि यह गरूड़ है, ऐसा मानकर ध्यान किया गया बगुला विष को दूर नहीं कर सकता। अर्थात् जैसे विष गरूड़ के ध्यान करने से दूर हो सकता है, गरूण के समान दिखने वाले बगुले से नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति सच्चे आप्त, सच्चे शास्त्रादि से हो सकती है, आप्त के समान दिखने वाले झूठे आप्त तथा झूठे शास्त्रादि से हो सकती है, आप्त के समान दिखने वाले झूठे आप्त तथा झूठे शास्त्रादि से नहीं।।23।। तुम शीघ्र उस प्रकार का तप करो, जो सब प्रकार के दोषों से रहित है और जो वीतराग अर्हंत परमेश्वर ने जिनवाणी में बताया है। वृथा तण्डुलरहित तुषों के खण्डन (कूटने) से क्या लाभ होगा?।।24।। जिस देव में रागादि दोष विद्यमान हैं, वह प्राणियों को भवसागर से पार नहीं कर सकता है। क्योंकि जो आप ही डूबने वाला है, वह औरों का हाथ नहीं पकड़ सकता।।25।। उस जिनेश्वर-प्रभु में क्रीड़ा नहीं है। क्योंकि क्रीड़ा तो बच्चों में ही देखी जाती है। वह तो तृप्त और इच्छारहित है, उसे क्रीड़ा से क्या काम? जो तृप्त नहीं है, वे ही क्रीड़ा से अपनी तृप्ति करना चाहते हैं।।26।। ईश्वर स्वेच्छाचारी भी नहीं है, क्योंकि इससे उसके ईशात्व में हानि आती है। और हम मनुष्यादिकों के साथ द्वेष करना भी उस सर्वोत्कर्षवान् परमेश्वर के कैसे बन सकता है? अर्थात् वह किसी से रागद्वेष भी नहीं करता है।।27।। यदि ईश्वर दोषरहित है, और उसे कोई कृत्य भी करना बाकी नहीं रहा है, तो फिर उस कृती को कृत्य से क्या? अर्थात् वह कार्य ही क्यो करेगा? यदि कहोगे कि, स्वेच्छाचार से करता है, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि स्वेच्छाचार तो उन्मत्त में ही देखा जाता है, उत्तम पुरुष में नहीं। अर्थात् उन्मत्त ही स्वेच्छाचारी होते हैं।।28।। इस प्रकार ज्ञान देने से उनमें से कई एक तपस्वी धर्मात्मा बन गये। क्योंकि जल सींचने से अच्छी मिट्टी तो गीली हो जाती है, परन्तु पत्थर गीले नहीं होते।।29।। तब वह पण्डित स्वामी धर्म में लगे हुए तपस्वियों को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। सत्य है, इस संसार में सज्जन पुरुषों को अपने उद्‌य व कल्याण की अपेक्षा दूसरों का कल्याण ही अधिक प्रीतिदायक होता है।।30।। पुरुषों का तीनों लोक में सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा चारित्र की प्राप्ति से बढ़कर और ऐश्वर्य क्या होगा? अन्य इन्द्रायण के फल के समान ऐश्वर्य के धोखे में डालने वाले सांसारिक ऐश्वर्यों से क्या? अर्थात् जैसे इन्द्रायण का फल

देखने में अच्छा होता है, परन्तु उसका परिपाक बहुत ही बुरा होता है, उसी प्रकार सांसारिक ऐश्वर्य देखने में अच्छे जान पड़ते हैं, परन्तु यथार्थ में उनका परिपाक बुरा होता है। सच्चा ऐश्वर्य दर्शनज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय प्राप्त करना है।।31।।

वहाँ से चलकर जीवंधर दक्षिण देश में सहस्त्रकूट चैत्यालय पर पहुँचे और वहाँ उन्होंने जिनालय की इस प्रकार की स्तुति की - ।।32।। हे भगवन्! मेरे दुर्जनरूपी अन्धकार से व्याप्त मार्ग में आप मोक्ष को प्रकाश करने वाले दीपक होइये। अर्थात् मुझे परम ज्ञान दीजिये- जिससे मेरा अज्ञान दूर हो।।33।। हे भगवन्! मैं इस जन्म जरा मरणरूप संसार वन में जन्मान्ध की तरह फिर रहा हूँ। यहाँ पर आपकी भक्ति ही मुझे मुक्ति देने वाली और सत्पथ में प्रवृत्त करने वाली है।।34।। विवादरहित और अखण्डित स्याद्वाद् मत के मुख्य प्रवर्तक और उपदेष्टा श्री शान्तिनाथ जिनदेव भवसागर के दुःख निवारण करने के लिये मेरे मन में दृढ़ शान्ति उत्पन्न करें"।।35।। इस प्रकार स्तुति करने से उस जिनालय के दरवाजे खुल गये। क्योंकि जो मुक्तिरूपी द्वार को भी तोड़कर खोल सकता है, वह किस चीज को नहीं तोड़ सकता है? अर्थात् मोक्षदाता स्तोत्र सब कुछ कर सकता है।।36।। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है कि उस पूजनीय ने वह बात कर दिखाई, जिसे और कोई नहीं कर सकता था। सूर्य सारे लोक में प्रकाश कर देता है, परन्तु उससे किसी को भी आश्चर्य नहीं होता है।।37।।

इतने में किसी पुरुष ने उसके पास आकर प्रीतिपूर्वक नमस्कार किया। सत्य है, क्या प्राणी अपनी मनोकामना को प्राप्त करके संतुष्ट नहीं होते? अर्थात् जिनका मनोरथ सफल होता है, वे संतुष्ट होते ही हैं।।38।। स्वामी ने उसे देखकर पूछा कि, 'हे आर्य! आप कौन हैं?" सच है, नम्र पुरुषों में एकरूपता रखना अर्थात् प्रणत पुरुषों को अपने समान समझना ही प्रभुओं की प्रभुता व बड़ों का बड़प्पन है।।39।। इस बात के पूछने पर वह भी शीघ्रता से उत्तर देने लगा- क्योंकि इच्छित सहायता के होने पर भी प्रयत्न अच्छा (फलद) होता है।।40।। "इस स्थान में क्षेमपुरी नामकी एक राजधानी शोभित है और इस नगरी का स्वामी नरपतिदेव राजा है।।41।। उस राजा के श्रेष्ठिपद पर प्रतिष्ठित एक सुभद्र नामका सेठ है, जिसकी पत्नी का नाम निवृत्ति है और क्षेमश्री इन दोनों की बेटी है।।42।। ज्योतिषियों ने इस जिनमंदिर के द्वार स्वयं ही खुल जायेंगे, वही पुरुष इस कन्या का पति होगा।।43।। मेरे नाम गुणभद्र है। मैं सेठ का किंकर हूँ, और उनका भेजा हुआ उस पुरुष की प्रतीक्षा के लिये ही यहाँ ठहरा हुआ हूँ। आज मैंने आपको देखा है। अर्थात् जिस पुरुष

की तलाश में था, वह आप ही हैं" ।।44।। यह कहकर उसने फिर नमस्कार किया और फिर शीघ्र ही अपने मालिक के पास जाकर और बहुत प्रसन्न होकर स्वामी का वृतान्त कह दिया।।45।। सुभद्र भी यह बात सुनकर उसी समय उसके साथ आया और उसने जीवंधर स्वामी को जिनदेव की पूजा में तत्पर देखा।।46।। उस समय वैश्यपति व सेठ ने इसका केवल शरीर ही नहीं देखा, किन्तु ऐश्वर्य भी देख लिया। क्या सुगन्धित पदार्थ की सुगन्धि शपथ खाने से प्रतीत होती है? नहीं, वह तो स्वयं मालूम हो जाती है। अभिप्राय यह है कि, बिना किसी के कहे उसने जीवंधर के वैभव को जान लिया।।47।। पूजा के अन्त में उन दोनों का परस्पर यथायोग्य सुश्रुषा का व्यवहार हुआ। जैसे धान्यों की नम्रता उनकी पक्वता को प्रगट करती है, उसी प्रकार से सज्जनों की नम्रता उनकी पक्वता अर्थात् योग्यता व बड़प्पन को प्रगट करती है।।48।। अब वह बन्धुओं का प्यारा जीवंधर सेठ के आग्रह से घर गया। क्योंकि सज्जन पुरुषों की मित्रता आपस में दो चार बातें करने से ही हो जाती हैं। 'साप्तपदीनं सख्यम्' यह लोकाक्ति प्रसिद्ध है, अर्थात् एक दूसरे के साथ सात पद उच्चारण करने से मित्रता हो जाती है।।49।। कौन ऐसा है, जो इस संसार में आती हुई लक्ष्मी को लात मारे? इसलिये उसने सेठ की दीनता व नम्रता से कन्या के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया।।50।। तदनन्तर पवित्र जीवंधर स्वामी ने शुभ लग्न में सुभद्र सेठ द्वारा समर्पण की हुई क्षेमश्री के साथ विधिपूर्वक विवाह किया।।51।।

श्रीमान् अजितसेनाचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़मणि ग्रन्थ में क्षेमश्रीलम्ब नाम का छठा लम्ब समाप्त हुआ।

*****

सप्तम लम्ब

फिर सुयोग्य स्वामी ने इस वधू के साथ बहुत कुछ सुख अनुभव करके वहाँ से इतर स्थान में जाने की चेष्टा की।।1।। और बहुत सी रात्रियों के व्यतीत होने पर स्वामी बिना कहे ही चले गये। क्योंकि भोले लोग सज्जनों के वचन में कभी विश्वास नहीं करते। अर्थात पति के विश्वास में आकर स्त्रियाँ उसे कभी नहीं जाने देती हैं।।2।। वह स्त्री उनके वियोग में जली हुई रस्सी के समान दुबली और कान्तिहीन हो गई क्योंकि ब्याही हुई स्त्रियों का प्राण उनका पति ही है और कोई नहीं है।।3।। सुभद्रा भी उन पवित्र स्वामी ढूंढकर उनके न मिलने से मन में बड़ी दुःखी हुई। क्योंकि जो वस्तु बड़े यत्न से मिले और यदि वह हाथ से चली जाये, जो चित्त को बड़ा खेद होता है। इसी प्रकार जीवंधर का विरह सहा नहीं गया।।4।। प्रशस्तबुद्धि वाले स्वामी ने चलते समय यह चाहा कि, मैं अपने आभूषणों को दे डालूं। क्योंकि बुद्धिमानों के लिये बुद्धि ही भूषण होती है, अन्य आभरणादि दोष के लिये ही होते हैं।।5।। उस समय उन्होंने अपने भूषणों को किसी धार्मिक पुरुष को दे देने का संकल्प किया। क्योंकि जो वस्तु पात्र को दी जाती है, वह एक वस्तु भी बीज की तरह सहस्त्र गुण फलती है।।6।। इतने में ही सज्जनों के सहायक जीवंधर स्वामी के पास कोई पुरुष आया। क्योंकि प्राणियों की सारी प्रवृत्तियाँ उनके भाग्य के अनुसार होती हैं।।7।। तब स्वामी ने अपने पास आये हुए उस नीच पुरुष से पूछा, "तू कहाँ से आया, कहाँ जायेगा और तू सुखी है व नहीं?"।।8।। उसने भी प्रसन्न होकर नम्रतापूर्वक उत्तर दिया - क्योंकि बड़े मनुष्यों का सम्मुख होकर बोलना ही छोटे मनुष्यों के लिये राज्याभिषेक होने के अर्थात् राजगद्दी मिलने के समान हर्षदायक होता है।।9।। "हे पूज्य! मैं कार्य की इच्छा से इधर उधर फिर रहा हूँ। मैं सुखी हूँ। और आपके दर्शन से मेरे कार्य में और भी अधिक सुख होगा। अर्थात् मेरा कार्य सफल होगा"।।10।। यह सुनकर कुमार ने फिर उस शूद्र पुरुष से कहा, - "हे किसान! खेती आदि कर्मों से सच्चा सुख नहीं उत्पन्न होता है।।11।। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या इन छः प्रकार के कामों से जो सुख उत्पन्न होता है, वह तृष्णा का मूल है, थोड़ी देर रहता है और शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, पाप का कारण है, दूसरे की अपेक्षा करता है अर्थात् पराधीन है, इसका अन्त भी खोटा है, और दुःखो से मिला हुआ है।।12।। वस्तुतः अपने आत्मा में ही उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य व सुख ही आनन्द दायक है। यह सुख आत्मा से ही मिल सकता है, बाधा व पीड़ा रहित है, सर्वोत्कृष्ट, अनन्त, तृष्णारहित और मुक्तिदायक है।।13।। यह आत्म सम्बन्धी परम सुख अपने और पर का

भेदज्ञान, यथार्थरूचिरूप श्रद्धा, और चरित्र परिपूर्ण होने पर ही होता है।।14।। आत्मा को ही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्त वीर्यगुणवाला, पुत्र स्त्री आदि को और तो क्या अपने शरीर को भी आत्मा से भिन्न समझ।।15।। इस प्रकार से यह भिन्न स्वाभाव को धारण करने वाला जीव अज्ञानता के कारण शरीर को निजत्व बुद्धि से जानता है। अर्थात् शरीर को अपने से पृथक् नहीं समझता है। और इसलिये देह से बँधता है अर्थात् बार-बार शरीर धारण करता है।।16।। संसार में आत्मा अज्ञानता से शरीर धारण करने के कारण भूत कर्म बाँधता है और फिर शरीर से अज्ञानता होती है। यह प्रबन्ध अनादिकाल से चला आता है। अर्थात अज्ञानता से शरीर धारण होता है। शरीर से अज्ञानता होती है। और यहा कर्मबन्ध का प्रबन्ध संसार है।।17।। आत्मा को आत्मत्व से और देह को देहत्व से देखता हुआ तू आत्मा से भिन्न जो देह है, उसके त्यागने में बुद्धि कर। क्योंकि अन्य प्रकार के नष्ट होने वाले कार्यों से क्या लाभ?।।18।। पर पदार्थों का त्याग करने वाले व त्यागी दो प्रकार के जानने चाहिये, एक अनगार व यति और दूसरे सागार व गृहस्थ। इनमें से पहले जो यति हैं, उनका शरीर मात्र धन होता है, अर्थात् शरीर के सिवाय उनके और किसी प्रकार का परिग्रह नहीं होता है, और वे सम्पूर्ण पापों से रहित होते हैं।।19।। परन्तु तू यतियों के मूलोत्तरादि गुणों को धारण नहीं कर सकता है, जैसे कि वायु वेग का घोड़ा हाथी के पालन व झूल के भार को नहीं उठा सकता है।।20।। इसलिये तू अब गृहस्थों के धर्म को स्वीकार कर। क्योंकि एक ही समय में उच्चश्रेणी पर चढ़ना कठिन होता है क्रम क्रम से चढ़ा जाता है।।21।। तीन प्रकार के गुणव्रत, चार प्रकार शिक्षाव्रत और पाँच प्रकार के अणुव्रत से युक्त, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन सम्पन्न और दोषसहित पुरुष गृहस्थ होते हैं।।22।। इन गृहस्थों के आठ मूलगुण ये है - पाँच अणुव्रत का पालन और तीन मकार का त्याग। 1. अहिंसा (हिंसा न करना) 2. सत्य (सच बोलना) 3. अस्तेय (चोरी न करना) 4. ब्रह्मचर्य (अपनी स्त्री से भी मितभोग करना) 5. मितवसुग्रहण (निर्वाहमात्र के लिये धनादि का संग्रह करना) 6-7-8,, मदिरा, मांस और मधु का त्याग।।23।। मूल गुणों के बढ़ाने वाले तीन गुणव्रत हैं। पहला दिग्व्रत, दूसरा अनर्थदंडव्रत और तीसरी भोगोपभोगपरिमाणव्रत।।24।। प्रोषधोपवास, सामायिक, देशावकशिक और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत हैं।।25।। दशों दिशाओं में नियमित मर्यादा तक जाना, बिना प्रयोजन के पापों का त्याग करना, और परिमित अन्न स्त्री आदि भोग उपभोग के पदार्थों का सेवन करना, ये तीन गुणव्रतों के तीन कार्य हैं।।26।। अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में उपवास अर्थात् 16 प्रहर तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, आत्मा की भावनाओं के (सब जीवों में समता आदि)

चिन्हों को निर्मल रखना और गमन करने कि निरन्तर अवधि बांधना अर्थात् दिग्व्रत में ग्रहण की हुई मर्यादा के अन्तर्गत वर्ष, छह, महीना, दिन, प्रहर आदि समय के नियम से गमन करने की प्रतिज्ञा करना और दानादि से संयमी पुरुषों की सुश्रूषा करना ये चार शिक्षाव्रतों के क्रम से चार कार्य हैं।।27।। अणुव्रती श्रावक इन सात शीलों से अर्थात् गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों से कोई-कोई देशों की अपेक्षा (जिनका कि त्याग कर चुका है) और किसी-किसी समय में (सामायिक आदि धारण करने पर) महाव्रती के तुल्य समझा जाता है। इसलिये गृहस्थ धर्म धारण करना चाहिये''।।28।। यह सुनकर उस शूद्र ने गृहस्थधर्म स्वीकार कर लिया। सत्य है, भाग्य के उदय होने पर कौनसा पुरुष कब और कैसा नहीं हो जाता। अर्थात् शुभकर्म का उदय होने पर सबको सब समय सब बातों का लाभ हो जाता है।।29।। फिर उस दान के जानने वाले दानी कुमार ने उसे अपने भूषण वसन उतार कर बड़े आदर से दे दिये।

सत्य है सज्जनों का चित्त देने में ही प्रसन्न होता है, लेने में नहीं।।30।। इस अमूल्य और अकल्पित अर्थात् बिना सोचे हुए धन के लाभ से वह बहुत प्रसन्न हुआ। क्योंकि संसार में तात्कालिक विषय सुखों की प्रीति ही विशेषता से होती है। अर्थात् जीवों को जिस समय विषयसुख मिलता है, उसी समय वे बहुत आनन्दित होते हैं।।31।। इसके पश्चात् स्वामी उसे छोड़कर उसका स्मरण करते हुए ही वहाँ से चल पड़े। सच है, सज्जन पुरुष सम्मुख और पीठ पीछे दोनों अवस्थाओं में एक सरीखे होते हैं।।32।।

आगे जीवंधर कुमार थक्कर कहीं जंगल में उपद्रवरहित होकर बैठ गया। पुण्य ही सब जीवों को शरण देने वाला है, और कोई नहीं।।33।। वहाँ उन्होंने एक अकेली स्त्री को देखकर मुंह फेर लिया। क्योंकि साधु पुरुषों के मन में जो दया उत्पन्न होती है, वह सर्वथा दोषरहित होती है।।34।। परन्तु वह उस श्रेष्ठ स्कंधों वाले पराक्रमी पुरुष को देखकर उससे विषयभोग की इच्छा करने लगी- कामवती हो गई। क्योंकि स्त्रियों की रूचि अप्राप्त पुरुष में ही होती है, प्राप्त में कभी नहीं।।35।। तब मन में अभिप्राय को ताड़ने वाले कुमार ने उसे पुरुषाभिलाषिणी समझकर विरक्तिभाव प्रकट किया। क्योंकि जो वस्तु मूर्खों के लिये अनुराग व प्रीति करने वाली होती है, वही वशी अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये वैराग्य की कारण होती है।।36।। ''यदि शरीर आत्मा से अलग बनाया जाये, तो उसमें केवल चमड़ा, मांस, मल, हड्डी आदि ही रह जाये। बड़े खेद की बात है कि तो भी अज्ञानी जीव इस घृणित मांस मलादि ढेर पर मोहित हो जाता है।।37।। विवेचन करने से अर्थात् भली भांति

विचारपूर्वक निरीक्षण करने से तो इस शरीर में दुर्गंध मल मांसादि के सिवाय और कुछ भी नहीं दिखाई देता है। फिर जीव इसमें न जाने क्यों मोह करते हैं? इसका क्या कारण है?।।38।। इस अज्ञानस्वरूप, तर्कशून्य और अपवित्रता का बीज अर्थात् मलमूत्र से भरा हुआ समझकर भी जो आत्मा इसमें स्पृहा करता है- इसे चाहता है, वह मानों स्वयं कहता है कि, मैं कर्मों के अधीन हूँ। अर्थात् जीव कर्मों के वश में होकर ही अपवित्र शरीर में राग करता है। कर्मों की परवशता नहीं होती, तो कदापि नहीं करता।।39।। यह विचारशून्य स्त्री मेरे बलवान शरीर को देखकर परवश तथा कामान्ध हो गई है। इसलिये अपने कल्याण के लिये मुझे यहाँ से चला जाना चाहिये।।40।। स्त्री अंगारे की तरह और पुरुष मक्खन के समान होते हैं। इसलिये स्त्रियों की निकटता मात्र से ही पुरुषों का मन पिघल जाता है।।41।। अतएव पाप से डरने वाले पुरुष को तरूणी लड़की से, वृद्ध स्त्री से, माता से, पुत्री से, अर्जिका से बोलना, हँसी करना, और पास में निवास करना आदि छोड़ देना चाहिये"।।42।। इस प्रकार वैराग्य की बातें सोचकर कुमार वहाँ से जाने लगे। क्योंकि पंडितों को मूर्ख पुरुषों के करने योग्य कार्यों से डरना चाहिये- अवश्य डरना चाहिये।।43।। तब उस अनुरागिनी कामिनी ने निश्चय कर लिया कि, पंडित जीवंधर कुमार विरक्त है। क्योंकि स्त्रियों में शरीरादि की चेष्टा पर से भीतरी अभिप्राय जान लेने का ज्ञान स्वभाव से ही होता है।।44।। तो भी उसने उनके मन को वश में करने कि लिये अपना यह वृत्तान्त कहा- क्योंकि स्त्रियों की दुबुर्द्धि की विधि में, अनेक द्वारों वाली होती है। अर्थात् दूसरों को ठगने के लिये वे नाना प्रकार की बातें बना लेती हैं।।45।। - "हे महाभाग! आप मुझे एक विद्याधर की अनाथ कन्या समझें। मेरे भाई का साला मुझको यहाँ बलात्कार लाया है और अपनी स्त्री के डर से मुझे यहाँ छोड़ गया है।।46।। मेरा नाम अनंग तिलका है। हे पुरुषों के शिरोमणि! मेरी रक्षा कीजिये। इसलिये कि आप श्रेष्ठ पुरुष हैं।।47।।" इतने में उस विद्वान कुमार ने किसी पुरुष को दुज्ञाह आर्तस्वर से यह कहते हुये सुनी कि, "हे प्यारी! तू कहाँ चली गई? मेरे तो तेरे विरह में प्राण निकल जाते हैं"।।48।। तब वह तरूणी कोई बहाना बनाकर कुमार के पास से इतनी जल्दी चली गई, जितनी देर में एक क्षण चला जाता है। क्योंकि स्त्रियों की चित्तवृत्ति स्वभाव ही से मायामयी अर्थात् छल कपट वाली होती है।।49।। पश्चात् इस माननीय कुमार को देखकर वह दुःखी पुरुष दीनता पूर्वक कहने लगा, - क्योंकि जो रागान्ध पुरुष अपवाद से व निन्दा से नहीं डरते हैं, उनकी दशा बड़ी ही शोचनीय होती है।।50।। "मान्यवर! मेरी पतिव्रता स्त्री प्यास से व्याकुल थी, इसलिये मैं उसे यहाँ बिठाकर पानी लेने के लिये चला गया था। परन्तु अब मैं लौट के आया तो उसे

यहाँ नहीं देखता हूँ।।51।। मैं विद्याधर हूँ। और विद्याधर में जो विद्या होनी चाहिये, वह मुझमें विद्यमान है। परन्तु इस समय वह अविद्यमान के समान हो गयी है। अर्थात् उस स्त्री के न मिलने से मैं सब कुछ भूलकर कर्तव्यविमूढ़ सा हो गया हूँ। इसलिये हे पुरुषोत्तम! अब कहिये कि, इस विषय में मेरा कर्तव्य क्या है? मैं क्या करूँ? "।।52।। यह सुनकर वे अभयंकर अर्थात् दूसरों को भी भयरहित करने वाले जीवंधर कुमार स्त्रियों में अतिशय लवलीन होने से डर गये। क्योंकि बुरी बात से डरने में ही बड़ों का बड़प्पन है।।53।। तदनन्तर पंडित जीवंधर ने विद्याधर को इस प्रकार समझाया, क्योंकि दूसरों का हित चाहने वाले पुरुष निश्चय करके उत्तम फल की देने वाली बात कहते हैं।।54।। "हे भवदत्त! तू विद्यारूपी धन पाकर भी क्यों व्यर्थ दुःखी होता है? क्योंकि विद्या के होने पर सुन्दर वस्तुओं में से ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो नहीं मिल सके।।55।। हे विद्याधर! विद्वान तो इधर उधर की विपत्तियाँ आने पर निश्चल रहता है और मूर्ख शोक करने लगता है। इसके सिवाय विद्वान और मूर्ख में कुछ भी भेद नहीं है।।56।। हजारों प्रकार की बुद्धिवाली स्त्रियों में पतिव्रत धर्म क्या? उनका पतिव्रत तो जाने आने के अभाव में यह सकता है। और से भी विरल कहीं कहीं। अर्थात् यदि वे इधर उधर कहीं जाये नहीं, तो पतिव्रता रह सकती हैं।।57।। स्त्रियों के आभूषण मद, मात्सर्य (डाह), माया (छल), ईर्ष्या (विरोध), राग (प्रीति) और क्रोध आदि होते हैं।।58।। यह स्त्री घृणारहित, दयाहीन, क्रूर, अव्यवस्थित चित्तवाली, अंकुशरहित (स्वतन्त्र), पाप रूप और पाप की कारण होती है। फिर ऐसी स्त्री में तेरी इच्छा क्यों हुई। अर्थात् तू ऐसी स्त्री में इतना रागी क्यों हो रहा है?।।59।। "परन्तु यह सब उपदेश उस विद्याधर के हृदय में नहीं जमा, जैसे कि कुत्ते के पेट में घी नहीं ठहरता।।60।। इससे स्वामी को उसकी मूर्खता पर बड़ी दया आयी। क्योंकि कुमार्ग-गामियों पर बुद्धिमानों का दया करना व तरस खाना ही योग्य है।।61।।

तदनन्तर स्वामी वहाँ से चलकर किसी उद्यान में पहुँचे। क्योंकि मन बहुधा ऐसी वस्तुओं के देखने की उत्कण्ठा करता है, जिसको उसने पहले नहीं देखा हो।।62।। उस बगीचे के किसी आम के फल को कोई भी मनुष्य धनुष से नहीं गिरा सकता था ठीक ही है, जिन मनुष्यों में शक्ति नहीं होती है, उनके लिये सहज काम करना भी कठिन होता है।।63।। परन्तु स्वामी उस फल को अपने बाण से छेद कर बाण के साथ ही ले आये। अर्थात् वे आम उनके बाण में ही छिदा हुआ चला आया। क्योंकि प्रत्येक कार्य में ऐसा उत्साह करने वाले पुरुष ही इच्छित फल को पाते हैं।।64।। यह काम देखकर जिसका बाण निशाने पर नहीं लगा था, उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। क्योंकि उत्तम काम अशक्त पुरुषों के

लिये अचरजकारी ही होते हैं।।65।। इसलिये उसने स्वामी से डरते-डरते कातर होकर अपना यह वृतान्त कहा, क्योंकि समर्थ पुरुषों के आगे असमर्थ जन तुच्छ होते हैं।।66।। "हे धनुर्विद्या में चतुर! मैं जो कुछ कहता हूँ उसे आप चाहे करें, व न करें। और मेरा वचन चाहे कानों को कडुवा भी लगे, पर आप उसे कृपा करके सुन अवश्य लेवें।।67।। इस मध्य देश में यह एक हेमाभा नाम की नगरी है। यहाँ एक दृढ़मित्र नामक क्षत्रिय (राजा) तथा नलिना नाम की उसकी स्त्री है।।68।। और उनके सुमित्र आदि कई पुत्र हैं, जिनमें एक मैं भी हूँ। हम सब भाई यद्यपि उम्र में बड़े हो गये हैं परन्तु विद्या में बड़े नहीं हुये हैं। अर्थात् हमें विद्या नहीं आती है।।69।। इसलिये हमारे पूज्य पिता ऐसे पुरुष की खोज में हैं, जो धनुर्विद्या का पण्डित हो। यदि आप इसमें कुछ दोष न समझें, तो यह भी देखें अर्थात् मेरे पिता से मिलें।।70।।" उस पुरुष के उक्त वचन सुनकर विद्वान स्वामी ने कुछ विरोध नहीं किया। अर्थात् वे उसके पिता से मिलने के लिये राजी हो गये। सच है, दैव मनुष्यों को आप ही आप ईष्ट पदार्थों से मिला देता है।।71।। इसके अनन्तर जीवंधर कुमार राजा को देखकर और उससे आदर सत्कार पाकर उसके वशीभूत हो गये। संसार में ऐसा कौन सचेतन है, जो अनुसारप्रिय न हो। अर्थात् अपनी इच्छानुसार चलने वाले के वश में सब ही हो जाते हैं।।72।। राजा ने भी क्षणमात्र में उसका माहात्मय देख लिया। क्योंकि शरीर मनुष्य के प्रभाव को अक्षररहित परन्तु स्पष्ट रूप से कह देता है। अर्थात् शरीर की चेष्टा से मनुष्य का प्रभाव जान लिया जाता है।।73।। फिर राजा ने अपने बेटों को विद्या सिखलाने के लिये उनसे बहुत कुछ प्रार्थना की। क्योंकि विद्या गुरु की आराधना करने से ही प्राप्त होती है और किसी साधन से नहीं।।74।। बारम्बार प्रार्थना करने से जीवंधर कुमार भी विद्या पढ़ाने के लिये उद्यत हो गये। क्योंकि उत्तम विद्या तो अपने आप ही देनी चाहिये, फिर प्रार्थना करने पर तो कहना ही क्या है? अर्थात् अवश्य देनी चाहिये।।75।। फिर पवित्र जीवंधर स्वामी ने राजा के बेटों को सच्चे मन से विद्या सिखाई। क्योंकि जो कृतार्थ और धर्मात्मा हैं, वे अपने सांसारिक प्रयोजन की इच्छा नहीं करके दूसरों का हित करते हैं।।76।। राजा के बेटे भी परिश्रम करके प्रत्यक्ष आचार्य रूप अर्थात् अपने गुरु जीवंधर के तुल्य हो गये। क्योंकि विनय विद्या रूपी दूध को शीघ्रता से देने वाली कामधेनु के समान है। अर्थात् विनय करने से विद्या बहुत जल्दी प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि, उन लड़कों ने विनयपूर्वक पढ़ा, इसलिये उन्हें विद्या भी शीघ्र आ गयी।।77।। अपने पुत्रों को विद्या में पारगामी देखकर राजा बहुत संतुष्ट हुआ। पिता को जब पुत्र मात्र ही आनन्द का कारण है, तब विद्यावान् पुत्र तो होगा ही। इसके विषय में तो कहना ही क्या है।।78।। पवित्र

जीवंधर कुमार का उसने बहुत सम्मान किया। करना ही चाहिये। क्योंकि यदि पंडितों का सम्मान न हो, तो इसमें सम्मान न करने वाले का ही दोष है।।79।। फिर उसने यह सोचा कि, मैं इस महान् उपकार करने वाले का क्या उपकार करूँ? इस संसार में विद्या देने वालों का प्रत्युपकार क्या हो सकता है?।।80।। आखिर उसने कुमार को अपनी कन्या दे देना उचित समझा। दाताओं से जो कुछ बन सके- जो वो दे सकें, उसे आदर पूर्वक देना चाहिये।।81।। तब वह अपनी पुत्री का विवाह करने के लिये कुमार के सम्मुख आया। क्योंकि जो उदार पुरुष हैं, वे इन तीनो लोकों को भी देने के लिये तृण के समान समझते हैं। फिर पुत्री देना तो बात ही क्या है?।।82।। तदनन्तर पवित्र जीवंधर स्वामी अग्नि की साक्षी से राजा द्वारा प्रदान की हुई उस कनकमाला कन्या को विवाह लिया।।83।।

श्रीमान् अजितासेनाचार्य के रचे हुये क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में कनकमाला लम्बनाम का सातवाँ लम्ब समाप्त हुआ।

*****

अष्टम लम्ब

कनकमाला से विवाह करने के पीछे बुद्धिमान जीवंधर कुमार उसमें अतिशय अनुरक्त नहीं हुये- तटस्थ रहे। क्योंकि जो अनुराग या विषयभोग के समुद्र में अवगाहन करते हैं, वे जीते नहीं है। अर्थात् विषयसमुद्र में डूब जाते हैं। और जीते वही हैं, जो इस समुद्र के किनारे पर ही रहते हैं। अर्थात् सुखी वे ही रहते हैं, जो विषयभोगों से अलग रहते हैं- निमग्न नहीं होते हैं।।1।। हेमाभा नगरी में बुद्धिमान कुमार अपने सालो के प्रेम से बहुत काल तक रहे। क्योंकि अपने प्यारों मे मोह हो ही जाता है। और प्रेम भाव बहुत ही मनोहर होता है।।2।। वहाँ पर बहुत बड़ा समय बीत गया। परन्तु उन्हे इससे कुछ भी खेद न हुआ। क्योंकि प्यारे मित्रों के साथ रहने में एक वर्ष भी एक क्षण की तरह बीत जाता है।।3।।

एक दिन कोई स्त्री उनके पास मुस्कुराती हुई आ बैठी। सत्य है, स्त्रियों की चेष्टा स्वभाव से ही चित्त को मोहित करने वाली होती है।।4।। तब कुमार ने उस (किसी मतलब से आई हुई) स्त्री से आदरपूर्वक पूछा कि, "तुम यहाँ क्यों आई?" ठीक ही है, जो कोई पुरुष कुछ वार्तालाप करना चाहते हैं, उसे पहले प्रश्न करने का ही कुतूहल होता है।।5।। वह बोली, "हे स्वामी! आयुधशाला में मैंने आपको एक ही समय में अभेदरूप से देखा है। अर्थात् जिस समय मे आप यहाँ थे, उसी समय आप ही सरीखा कोई पुरुष आयुधशाला में भी था"।।6।। पवित्र जीवंधर को यह बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। क्योंकि अयुक्त व अनहोनि बात देखने सुनने से आश्चर्य होता ही है।।7।। फिर उन्होने तर्क किया- विचार किया कि, क्या यहाँ नन्दाढ्य आ गया? (इसने शायद उसी को देखा होगा, क्योंकि वह मेरी ही सूरत का है) सत्य है, संसार के विषयों में मन की दौड़ तत्काता और आप ही आप लग जाती है।।8।। नन्दाढ्य के स्नेह के कारण जीवंधर कुमार का शरीर मन के व्यापार से पहले ही आयुधशाला में पहुँच गया। अर्थात बहुत जल्दी जा पहुँचा। क्योंकि आस्था होने पर कभी-कभी बिना यत्न के भी वचन और काय की चेष्टा हो जाती है।।9।। और वहाँ जाकर वे नन्दाढ्य को देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। क्योंकि प्रथम तो भाई का देखना ही प्रीतिकर व आनन्दकारक होता है, फिर बिछड़े हुये भाई का तो कहना ही क्या है? अर्थात् बिछुड़े हुओ का मिलना और भी हर्ष का करने वाला होता है।।10।। छोटा भाई भी उन्हें देखकर दुःखसागर से पार हो गया। क्योंकि चिरकाल तक दुःख सहने के अनन्तर सुख मिलने से दुःख का विस्मरण हो जाता है।।11।। फिर बड़े भाई ने छोटे से एकान्त में पूछा कि, "तुम

यहाँ क्यों आये हो?" क्योंकि बुद्धिमान अपनी वंचना और निरादर को प्रकाशित नहीं करते।।12।। तब उसने खेद के साथ दुःख का ध्यान करते हुये अपना वृतान्त कहा, - क्योंकि पहले दुःख का ध्यान करके मनुष्य को बहुत दुःख होता है।।13।। - "हे पूज्यपाद! हमारे पाप के उदय से जब आप चले आये, जब मैं मुर्दे के सदृश हो गया। और मैंने मरने का संकल्प कर लिया।।14।। फिर विद्या के बल से सारा वृतान्त जानने वाली मेरी भावज का (आपकी स्त्री का) क्या समाचार है? ऐसा विचार करते ही मुझे योग्य समय में ज्ञान हो गया। अर्थात् मैंने सोचा कि, भावज से आपका पता लगवाना चाहिये। क्योंकि वह अवलोकिनी विद्या से आपका वृतान्त जान गयी होगी।।15।। फिर इस प्रकार आपके भविष्यत् दर्शन के सुख मिलने की आशा से मैं अपनी भावज के घर गया और वहाँ विषाद करता हुआ ठहर गया।।16।। जब मैंने उससे यह कहने का प्रारंभ किया कि, हे स्वामिनी! (भावज, स्वामी की स्त्री) जिनके पति नहीं हैं, ऐसी (विधवा) स्त्रियों की सुख की स्थिति कैसे हो सकती है?" तब मेरे हृदय की बात जानने वाली गन्धर्वदत्ता ने कहा।।17।। 'हे वत्स! तू खेद क्यों करता है। तेरे भाई सब प्रकार से उपद्रवरहित हैं। वे तो बड़े सुख में हैं। हम ही बड़े पापी हैं, जो दुःख के समुद्र में पड़े हुये हैं।।18।।' उनका तो प्रत्येक देश, प्रत्येक गाँव और प्रत्येक घर में, जहाँ जाते हैं, वहाँ ही आदर सत्कार होता है। क्योंकि शुभ भाग्य का उदय होता है, तब विपत्ति भी सम्पत्ति व सुख का कारण होती है।।19।। हे वत्स! यदि तुम अपने बड़े भाई से मिलना चाहते हो तो, दुःखी क्यों होते हो? जाओ। मैं पापिनी स्त्री कहाँ जा सकती हूँ।।20।। यह कहकर भावज ने मुझे मंत्र पढ़कर सेज पर सुला दिया और यह पत्र देकर यहाँ भेज दिया।।21।।

जीवंधर स्वामी अपने भाई के करूणाजनक वाक्यों से बड़े दुःखी हुये। सत्य है, जब तक संसार है, तब तक प्राणियों का स्नेह की फांसी से छुटकारा नहीं होता।।22।। फिर उन्होंने गन्धर्वदत्ता की भेजी हुई चिट्ठी पढ़ी। गुणमाला की विरह पीड़ा का वृत्तान्त लिखा हुआ था। सच है, चतुरजन अपने मुख से अपने काम की बात नहीं करते हैं। दूसरों के बहाने से कह देते हैं।।23।। यद्यपि उस पत्र में संदेश लिखा हुआ था, वह गुणमाला के व्याज (बहाने) से था, परन्तु उसे पढ़कर कुमार को गन्धर्वदत्ता विद्याधरी के विषय में ही खेद हुआ। क्योंकि द्वेष और पक्षपात प्रत्येक पात्र की व वस्तु की अपेक्षा से भेदरूप होता है।।24।। परन्तु अपनी प्रिया के शोक के सुनने से कुमार को जो शोक हुआ, उसे उन्होंने प्रगट नहीं किया। क्योंकि विवेकी पुरुष सुख और दुःख में विकार को प्राप्त नहीं होते।।25।।

फिर राजा दृढ़मित्र के घरवालो ने भी कुमार के छोटे भाई नन्दाढ्य से बहुत कुछ वार्तालाप किया व आदर सत्कार किया। सत्य है, बन्धु के भी बन्धु में प्रेम तब होता है, जब वंचनारहित सच्ची बन्धुता होती है।।26।।

एक दिन बहुत से ग्वाले गौओं के रोके जाने से राजा के आंगन में आकर रोकर चिल्लाने लगे। क्योंकि अत्यन्त पीड़ा के होने पर प्राणी अपने रक्षा करने वालों से रक्षा की आशा किया करते हैं।।27।। क्षमावान जीवंधर उनका करूणाजनक आक्रन्दन सुनकर न रह सके। क्योंकि यदि किसी को नाश होने से और दुःख से न बचाया जाये तो लोक की मर्यादा कैसे रहे?।।28।। श्वसुर ने रोका भी, परन्तु वह उसके रोके न रहे और गायों के छुड़ाने के लिये गये। क्योंकि जब शक्तिहीन पुरुष भी निरादर को नहीं सह सकते हैं तब शक्ति वालो व प्रबल पुरुषों का तो कहना ही क्या है? वह कैसे सह सकते हैं?।।29।। परन्तु वहाँ जाते ही लोग गायों को चुराकर ले गये थे, वे स्वामी के मित्र बन गये। क्योंकि जब भाग्य का उदय होता है, तब ईंधन ढूंढने वालों को भी रत्न मिल जाता है।।30।। एक-दूसरे को देखने से स्वामी और स्वामी के इन मित्रों में एक सरीखी प्रीति हो गयी। निश्चय करके एक कोटिगत स्नेह अर्थात् एकांगी प्रीति मूर्खों की ही चेष्टा है, बुद्धिमानों की नहीं। अभिप्राय यह कि, बुद्धिमानों में दोनो ओर से एक सा प्रेम होता है।।31।।

शत्रुओं को मित्र हुए देखकर अपने जमाई के विषय में राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। सत्य है, पुण्यात्मा पुरुषों को सेना आदि समृद्ध सामग्री से रहित होने पर भी उससे रहित नहीं गिनना चाहिये। अर्थात् कुछ नहीं होने पर भी वे सब कुछ कर सकते हैं।।32।। विद्वान जीवंधर कुमार अपने छोटे भाई और मित्रों के सहित अत्यन्त हर्षित हुए क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों के लिये समान अभिप्राय वालों के संगम से बढ़कर और कोई दूसरा सुख नहीं है।।33।।

तदनन्तर मित्रों के द्वारा अपना, जैसा कभी नहीं हुआ था, ऐसा सम्मान होते देखकर स्वामी को संदेह हो गया। अर्थात् उन्हें संशय हुआ कि, ये इतना आदर सत्कार क्यों कर रहे हैं। क्योंकि जो लोग विशेषता के पहचानने वाले होते हैं, वे विशेष आकृति देखकर संदेह करने लगते हैं।।34।। इसलिये उन्होंने मित्रों से एकान्त में इसका कारण पूछा। सत्य है, जिनका अभिप्राय एकसा होता है, जो एक दूसरे से अपनी बात छुपाते नहीं हैं, उन्हीं में उत्पन्न हुई मित्रता स्थिर रहती है।।35।। तब उनमें से जो पद्मास्य नाम का प्रधान मित्र था, वह बोला- क्योंकि सज्जनों की यह शौली है कि, वे क्रमपूर्वक किसी कार्य का आरंभ करते

हैं।।36।। "हे स्वामिन्! आपके वियोग में हम लोग मानो आगामी उदय होने वाले बड़े भारी भाग्य का हस्तावलम्बन मिलने से दग्धप्राण होकर भी जीते रहे हैं। अर्थात् जिस पुण्यकर्म के उदय से आपका यह दर्शन होने वाला था, उसके सहारे से हम अभी तक जीते रहे हैं।।37।। फिर देवी ने (गन्धर्वदत्ता ने) हमें अपने हाथों का सहारा देकर बचाया और धीरज बंधाया। तब हम घोड़ों के बेचने वालों का वेष धारण करके वहां से चल पड़े।।38।। पश्चात् मार्ग को लांघकर मार्ग की थकावट दूर करने के लिये हमने तपस्वियों के प्रसिद्ध दण्डकारण्य में विश्राम किया।।39।। फिर चारों ओर नई-नई मनोहर वस्तुएँ देखते हुए और उस वन में विहार करते हुए हमने किसी एक स्थान में आपकी पुण्यस्वरूप माता को देखा।।40।। हमको देखते ही माता ने प्रश्न किया कि, तुम कहाँ से आये। तब हमने भी माता के प्रश्न का यथाक्रम उत्तर देना प्रारंभ किया।।41।। "राजपुर नगर में एक पण्डितों का और वैश्यों का शिरोमणि जीवक नामक पुरुष है। हम सब उसके अनुजीवी व दास हैं।।42।। वहाँ को काष्ठांगार नाम का पुरुष उस निरपराधी को मारने के लिये-" बस हमने इतना कहा ही था कि, माता मूर्छित होकर गिर पड़ी।।43।। "हाय! हाय! हे माता! जीवक मरा नहीं हैं।।" जब मैंने इस तरह कहा, तब वह जिसके कि प्राण निकलने से रूक गये थे, सचेत होकर प्रलाप करने लगी।।44।। जैसे मेघमाला वज्रपात और पानी की वर्षा एक साथ करती है, उसी प्रकार माता ने प्रलाप करते हुए आपकी सब बीती हुए कथा सुनाई, अर्थात् उसका प्रलाप हमारे हृदय में वज्रपात के समान प्रतीत हुआ और आपका वृत्तान्त जलधारा के समान।।45।। उसके मुखरूपी आकाश में बरसती हुई आपकी उन्नतिरूपी रत्नों की वर्षा को पाकर अर्थात् माता के मुंह से आपकी उन्नति के समाचार सुनकर हमने यह समझा कि, मानों सारी पृथ्वी ही हमें मिल गई है।।46।। तदनन्तर आपके वैभव की महिमा के वर्णन से माता को धीरज बँधा के और उनसे पूछकर, जब उन्होंने आज्ञा दे दी, तब हम इस देश में आये हैं।।47।।

माता को जीती हुई भी मरी समझकर अर्थात् यह जानकर कि मेरी माता यद्यपि जीती हैं, तो भी देशान्तर में होने से मरी के समान हो रही है, तत्त्वों के जानने वाले जीवंधर को भी खेद हुआ। क्योंकि प्राणियों का मातृस्नेह (माता की प्रीति) दूसरे उपायों से नष्ट नहीं होता है।।48।। निदान- वे बड़े भारी गौरव को धारण करने वाले जीवंधर कुमार माता को देखने के लिये आतुर हो गये। उनके पास शीघ्र ही जाने लगे। भला ऐसा कौन है, जो अपनी पहले न देखी हुई माता को न देखना चाहे?।।49।। उस समय माननीय स्वामी अपनी माता के स्नेह में अन्य सबको सर्वथा भूल गये। और उसके उस बलवान स्नेह में रागद्वेषादी

विकार नष्ट कर दिये। ।50।। फिर उन्होंने अपनी स्त्री और अन्य जनों से भी अपने जाने की बात प्रगट की। क्योंकि आवश्यक काम के लिये भी बन्धुओं से बिना पूछे विमुख होकर जाना दुखदाई होता है। ।51।। निदान अपने साथियों तथा बन्धुओं को समझा बुझा के वे हठपूर्वक वहाँ से चल दिये। क्योंकि समझाने बुझाने व अनुनय से महान् पुरुषों की महिमा बड़ती है। ।52।।

तदनन्तर कार्य को पूरा करने वाली बुद्धि के धारण करने वाले चतुर स्वामी दंडकवन में गये और वहाँ अपनी माता को देखकर प्रेमान्ध हो गये। क्योंकि तत्त्वज्ञान व विचार के जाते रहने से रागादि भाव प्रबल हो जाते हैं। ।53।। पुत्र को जन्मते ही त्याग देने से माता को जो दुःख हुआ था, अब उसके देखने से वह सारा दुःख जाता रहा। क्योंकि पुत्र ही माताओं के प्राण होते हैं। ।54।। पुत्र को देखकर उस दुखिनी माता ने यह चाहा कि, अब यह राजा हो जाये। क्योंकि एक वस्तु पा लेने पर मनुष्य दूसरी वस्तु के पाने की इच्छा करता है, उसको संतोष कभी नहीं होता है। ।55।। फिर माता ने कहा, "हे पुत्र! तुझे तेरे पिता का राज्य अब कब प्राप्त होगा? क्योंकि लोक में कोई भी कार्य ऐसा नहीं दिखाई देता है, जो बिना सामग्री हो सके। ।56।। पुत्र बोला, "हे माँ! व्यर्थ खेद करने से क्या है? तू खेद क्यों करती है? राज्य मुझे अवश्य मिल जायेगा।" चतुरों को चाहिये कि, मूढ जनों के सन्मुख अपने बल की प्रशंसा किया करें। ।57।। पुत्र का यह वचन सुनकर माता ने जाना कि, पृथ्वी तो अब मेरे हाथ में ही आ गई। क्योंकि मूढ़जन सुनकर ही निश्चय करते हैं, युक्तिद्वारा तर्क वितर्क करने की शक्ति नहीं रखते हैं। ।58।।

राज्य की बात कहकर माता ने जीवंधर को कठिनाई से रक्षा होने योग्य एक बड़े भारी नाश के स्थान के सम्मुख कर दिया अर्थात् युद्ध के लिये तैयार कर दिया। सच है, और तो क्या क्षत्रियों की स्त्रियाँ भी शत्रु होती हैं। ।59।। तदनन्तर स्वामी ने जो कुछ करना था, उसके विषय में अपनी माता से सलाह की। क्योंकि जो लोग कार्य करने में चतुर होते हैं, वे जो काम करते हैं, उसे औरों से विचार करके ही करते हैं। ।60।। फिर बुद्धिमान स्वामी ने अपनी माता को तो अपने मामा के पास भेज दिया। क्योंकि अपनी माता की दुरवस्था कोई भी सजीव पुरुष नहीं सह सकता है। ।61।। और आप दंडकारण्य के तपस्वियों के पास से संतोष के साथ अपने नगर को चले गये वहाँ समीप के एक बाग में ठहर गये। ।62।।

पश्चात् मित्रों को वहाँ बिठाकर आप नगरी में चारों ओर जहाँ तहाँ विहार करने

लगे। क्योंकि बन्धरहित इन्द्रियरूपी हाथी कहीं एक जगह नहीं ठहरते।।63।। फिर बुद्धिमान कुमार राजपुरी को देखकर अत्यन्त संतुष्ट हुए। क्योंकि प्राणियों के ममता की बुद्धि से किया हुआ मोह बहुत अधिक होता है। अर्थात् जिस वस्तु में ऐसी बुद्धि होती है कि, यह मेरी है, उसमें बहुत मोह करते हैं।।64।। उस समय किसी क्रीड़ा करते हुई स्त्री ने अपने महल के अग्रभाग से एक गेंद गिरा दी। सच है, सम्पत्ति और आपत्ति की प्राप्ति किसी न किसी बहाने से ही होती है।।65।। क्योंकि अन्तरंग बुद्धिवाले स्वामी ने ऊपर को मुँह उठाकर देखा, त्योंही उस गेंद डालने वाली तरूण स्त्री को देखकर वे मोहित हो गये। क्योंकि जितेन्द्रिय व इन्द्रियों को वश में रखने वाले पुरुषों का मन योग्य वस्तु पर ही जाता है।।66।। फिर मोह के वश होकर वे शीघ्र ही उसके महल की बेदी पर (छज्जे पर) चढ़ गये। क्योंकि पुण्यवानों की इच्छा भी निष्फल नहीं होती है। अर्थात् विचार करते ही उनके कार्य की सिद्धि हो जाती है।।67।। उन्हें इस तरह छज्जे पर चढ़ते देख कोई वैश्यपति (सेठ) मुस्कराया और बोला- क्योंकि प्राणी अपनी चिरकाल से चाही हुई वस्तु को पाकर बड़े प्रसन्न होते हैं।68।। "हे भद्र! मैं सागरदत्त नाम का वैश्य हूँ। यह मेरा घर है। और यह मेरी सहधर्मिणी कमला से उत्पन्न हुई विमला नाम की कन्या है। अब यह तरूण हो गई है।।69।। जिस समय यह कन्या उत्पन्न हुई थी, उस समय ज्योतिषियों ने यह विचार किया था, कि जिसके आने पर तुम्हारा नहीं बिकने वाला रत्नों का समूह बिक जायेगा, वही पुरुष इस कन्या का पति होगा।।70।। सो आपके यहाँ आने पर वह बात ऐसी ही हुई है। अर्थात् मेरे सारे रत्न और मणि बिक गये। इसलिये हे भाग्याधिक (बड़े भाग्यवान्) आप ही इस कन्या को विवाह के योग्य हैं। और अधिक क्या निवेदन करूँ?।।71।। उसके इस विषय में बहुत आग्रह करने पर इन्होंने भी स्वीकार कर लिया। क्योंकि जितेन्द्रिय व वशी पुरुष जिस वस्तु को चाहते हैं उसके भी लेने में कातरता (अधीरता) नहीं प्रकट करते। भाव यह है कि, यद्यपि वे विमला को चाहते थे, तो भी उन्होंने उसका ग्रहण करना सागरदत्त के आग्रह से ही स्वीकार किया, धीरज नहीं छोड़ा।।72।।

तदनन्तर सत्यधंर के पुत्र ने सागरदत्त की दी हुई कन्या से अग्नि को साक्षी बनाकर विवाह किया।।73।।

श्रीमान् अजितसेनाचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में विमलालम्भ नाम का आठवाँ लम्ब समाप्त हुआ।

*****

नवम लम्ब

तदनन्तर अत्यन्त स्नेही स्वामी ने नई विवाहित विमला स्त्री को बहुत ही प्यारी अनुभव की। जिनको हम चाहते हैं, यदि वे भी हमें चाहें, तो यह संसार भी साररूप जान पड़ता है। अर्थात् इस संसार में परस्पर सच्चा प्रेम होने से बहुत सुख प्राप्त होता है।।1।।

फिर उस स्त्री को प्रसन्न करके वहीं छोड़ा और आप अपने मित्रों से आ मिले। क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों के मन को कोई कभी रोक नहीं सकता है।।2।। उस समय स्वामी के शरीर पर वर के चिन्ह देखकर बंधुओं ने उनका बड़ा आदर सत्कार किया। क्योंकि जीवों की प्रीति इस लोकसंबंधी अतिशयों में ही बहुत होती है। अर्थात् किसी की सांसारिक बढ़ती देखकर ही लोग उस पर प्रीति करते हैं।।3।। उन मित्रों के साथ में जो बुद्धिषेण नामका एक विदूषक था, उसने हँस करके कहा- क्योंकि दूसरों को प्रसन्न करने के लिये जो सेवकाई की जाती है, वह नाना प्रकार से होती है। अर्थात् जिस तरह से बना है, विदूषक अपने स्वामी को प्रसन्न करते हैं।।4।। "दुर्भाग्य के कारण जिन कन्याओं को कोई पूछता भी नहीं है, जिनकी लोग उपेक्षा कर जाते हैं, वे तो आसानी से मिल सकती है (इसलिये उनके साथ विवाह करके आप क्या प्रसन्न होते हैं? इसमें आपकी क्या बड़ाई है?) महाभाग्य तो आप तब होंगे, जब सुरमंजरी के साथ विवाह करेंगे। अर्थात् औरों के समान सुरमंजरी का पाना सहज नहीं है!"।।5।। विदूषक के ताने से उत्तेजित होकर जीवंधर कुमार ने उसी मानिनी (मान वाली) सुरमंजरी से विवाह करने की मन में ठान ली (जिसके कि चूर्ण को जीवंधर ने सुगन्धिरहित बुरा बतलाया था) क्योंकि किसी बहाने के मिल जाने से दुराग्रह बढ़ जाता है।।6।।

अब कुमार ने इस विषय में यक्ष के बतलाये हुए उसी उपायभूत मंत्र का स्मरण किया। क्योंकि पंडितों की इच्छा स्थिर और अटल उपाय से ही पूर्ण होती है।।7।। और उपाय जानने वाले स्वामी ने वृद्ध को रूप धारण करने को अच्छा उपाय समझा। क्योंकि जीवों के बालक और वृद्ध दया के पात्र होते हैं। अर्थात् लोग बालकों और वृद्धों से यदि कोई अपराध भी हो जाता है, तो भी उन पर दया करते हैं।।8।। मंत्र की महिमा से कुमार को उसी समय बुढ़ापा आ गया। क्या निर्दोष और प्रसंशनीय विद्या कभी निष्फल हो सकती है? नहीं।।9।।

तदनन्तर यह बूढ़ा उस नगरी के चारों ओर विहार करने लगा। क्योंकि जो लोग

नीति के जानने वाले हैं, उनकी चाल पर कोई शंका नहीं करता है।।10।। बूढ़े ब्राह्मण का वेश उसने ऐसा धारण किया था कि, उसे देखकर विवेकी पुरुष विषयों से विरक्त हो गये। क्योंकि बुढ़ापा विरक्ति के लिये ही होता है। उसे देखकर वैराग्य होना ही चाहिये।।11।। बुढ़ापा मूढ़जनों को यह बताता है कि, मक्खियों के पंख से भी पतले मांस के ढकने वाले चमड़े में (शरीर के ऊपर की पतली खाल में) सुन्दरता मानना एक प्रकार की भ्रांति व भ्रम है।।12। हे मुर्खों! खेद है कि यह आयु और शरीर क्षण में नष्ट होने वाला है परन्तु हम इस बात को नहीं जानते हैं। केवल समय को ही क्षयात्मक अर्थात् नष्ट होने वाला जानते हैं।।13।। हाय! और तो क्या बुढ़ापा आ जाने पर लोग अपनी माता को भी तिनके के बराबर नहीं मानते हैं, अर्थात् तिनके से तुच्छ समझने लगते हैं। इस कारण बुढ़ापे से तो मरना ही अच्छा है।।14।। पंडितों में इस प्रकार का विचार और मूर्खों में हँसी उत्पन्न कराता हुआ वह वृद्ध कुछ समय में सुरमंजरी के घर पहुँचा।।15।। जब वहाँ की द्वारपालिनी स्त्रियों ने उससे आने का कारण पूछा, तब वृद्ध ने कहा कि- "मैं अपने कल्याण के लिये कुमारी तीर्थ में स्नान करने आया हूँ। (यहाँ कुमारी एक तीर्थ का नाम है, और कुमार सुरमंजरी की ओर व्यंग है) ठीक ही है? सज्जनों के वचन मिथ्या नहीं होते हैं। अर्थात् वह आया ही इसलिये था।।16।। द्वार रक्षक स्त्रियाँ उसकी यह बेतुकी बात सुनकर हँस पड़ीं। क्योंकि मूर्खों को सज्जनों का वाक्य बेतुका ही प्रतीत होता है।।17।। फिर उन्होंने कृपा करके उसे नहीं रोका, इसलिये वृद्ध सुरमंजरी के घर में चला गया। जिन लोगों को किसी प्रकार की ग्लानि नहीं रही है, वे जले हुए बीज कर आभावाले निर्लज्ज कहाँ जीते हैं? वे तो मरे हुए ही हैं। भाव यह है कि, इस तरह बिना आदर के किसी की कृपा के भरोसे से जाता तो लज्जावान के लिये मरना ही है।।18।। द्वार रक्षक सुन्दरियों ने डरते-डरते यह बात सुरमंजरी से कह दी। क्योंकि स्वामी के अधीन रहने वाले सेवकों को भय और स्नेह का ही बल रहता है।।19।। पुरुषों से द्वेष करने वाली सुरमंजरी ने भी उस अतिशया वृद्ध पुरुष को देखा और बिठाया। सच है, जीवधारियों के सब काम होनहार के अनुसार होते हैं।।20।। फिर वृद्ध को भूखा देखकर उसे श्रेष्ठ कुमारी ने भोजन कराया। क्योंकि अन्तःस्वरूप की यथार्थता में वेष नियन्ता नहीं होता। अर्थात् बाहरी आकृति से भीतर का ठीक-ठाक भेद नहीं खुलता।।21।। भोजन करने के पश्चात् वह बुद्धिमान मानो बुढ़ापे से थक्कर एक शय्यापर सो गया। क्योंकि जो लोग विचार कर काम करते हैं, वे योग्य समय की प्रतीक्षा करते रहते हैं।।22।।

तदनन्तर गायन विद्या के जानने वाले उस वृद्ध ने संसार को मोहित करने वाला

गाना गाया। क्योंकि पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ मोह एक दूसरे से अधिक अधिक प्रीतिजनक होता है।।23।। सुरमंजरी ने गाने की कुशलता देखकर वृद्ध को बड़ा शक्तिशाली समझा। क्योंकि जो विशेषज्ञ होते हैं, वे किसी न किसी प्रकार से विद्वानों और अविद्वानों को पहिचान ही लेते हैं।।24।। और इसलिये वह इस वृद्ध ब्राह्मण से अपने कार्य की भी आदर पूर्वक परीक्षा कराने को तत्पर हुई। क्योंकि देहधारियों की स्वभाव ही से अपने कार्य में तत्परता रहती है।।25।। उसने पूछा कि, गान विद्या के समान तुम्हारी और भी किसी विषय में शक्ति है? अर्थात् और भी किसी विद्या में तुम निपुण हो या नहीं? सच है, यदि मानी जनों से कुछ प्रार्थना की जाय और वह निष्फल चली जाये, तो वे जीते नहीं हैं-उनका मरना हो जाता है। अभिप्राय यह है कि, यदि सुरमंजरी ऐसा प्रश्न करती है, तुम अमुक विद्या जानते हो, शायद वह न जानता होता, तो यह उत्तर देने में उसका मरना हो जाता है कि, "मैं नहीं जानता हूँ'। इसलिये उसने ऐसी युक्ति से पूछा कि, जिससे वह किसी न किसी विद्या में अपनी गति बता देवे।।26।। तब उस बड़े चतुर वृद्ध ने उत्तर दिया कि, "हाँ, सब विषयों में मेरी शक्ति है और खूब है" "क्योंकि कहने की चतुराई से कहे हुए विषय में बहुत दृढ़ता आ जाती है।।27।। यह सुनकर सुरमंजरी ने अपने चाहे हुए वर के पाने का उपाय पूछा। क्योंकि जब कोई अन्धा हो जाता है, तब उसके मन में इस बात का विचार नहीं होता है कि, इस याचना से दीनता प्रगट होगी।।28।। वृद्ध ने बतलाया कि, "सब मनोरथों को सफल करने वाला काम देव है"। क्योंकि इष्ट मनोरथ के अनुकूल वचन ही प्राणियों के मनको प्रसन्न करता है।।29।। यह सुनकर सुरमंजरी ने अपने इच्छित पदार्थ को अपने हाथ में आया हुआ ही समझ लिया।

जो जन मनोरथों से संतुष्ट हो जाते हैं, उनको यदि मूल वस्तु मिल जाये, तो फिर कहना ही क्या है?।।30।।

इसके पश्चात् वह वृद्ध ब्राह्मण सुरमंजरी को अपने सोचे हुए कामदेव के मंदिर में ले गया। सच है, जो लोग अच्छी तरह से विचार करके काम करते हैं, उनके काम में दोष कैसे आ सकता है? उनका काम तो सफल ही होता है।।31।। वहाँ पर उस कुमारी ने जीवंधर स्वामी के प्राप्त करने की इच्छा से कामदेव से बहुत सी प्रार्थना की। सच है, जो राग और द्वेष जन्म जन्मान्तर से बंधे हुए होते हैं, वे नष्ट नहीं होते हैं।।32।। उसी समय "तूने अपने वर को प्राप्त कर लिया" इस प्रकार बुद्धिषेण विदूषक के कहे हुए वचन को सुनकर पतिव्रता सुरमंजरी ने समझ लिया कि, यह वचन साक्षात् कामदेव ने कहा है। क्योंकि

भोलापन ही स्त्रियों का आभूषण है। अभिप्राय यह है कि, उस कामदेव के मंदिर में जीवंधर का मित्र बुद्धिषेण विदूषक पहले ही से छुपा हुआ बैठा था। सो ज्यों ही सुरमंजरी ने प्रार्थना की कि, तुझे तेरा वर मिल गया'। और इसे उस भोली कुमारी ने समझ लिया कि, कामदेव ने मेरी प्रार्थना से प्रसन्न होकर वर दिया है।।33।। उसी समय जीवंधर कुमार ने अपना असली रूप प्रगट कर दिया, जिसे देखकर कुमारी लज्जित हो गई। होना ही चाहिये। क्योंकि जिन्हें लज्जा नहीं है, वे लोग दया रहित पुरुषों के समान जीते भी मरे हुए हैं।।34।। फिर वहाँ कुमार ने उसे पतिभाव से बहुत ही संतुष्ट किया। सच है, स्त्री और पुरुष के एक कण्ठ व एकरूप होने से और उनमें अति प्रेम होने से यह संसार भी साररूप हो जाता है।।35।।

तदनन्तर जीवंधर कुमार ने कुबेरदत्त के द्वारा प्रदान की हुई सुमति की बेटी सुरमंजरी के साथ विधिपूर्वक विवाह कर लिया।।36।।

श्रीमान् अजितसेनाचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में सुरमंजरीलम्ब नामक नवमाँ लम्ब समाप्त हुआ।

*****

दसवाँ लम्ब

तदनन्तर उस बहुत प्रेम करने वाले कुमार ने उस विवाहित सुरमंजरी का बड़ा सम्मान किया। क्योंकि जो वस्तु बड़े यत्न से मिलती है, उससे प्रेम भी विशेष होता है।।1।।

फिर उसको किसी न किसी प्रकार से प्रसन्न करके समझा करके कुमार अपने मित्रों के पास आ गये। जो कुलनी स्त्रियाँ होती हैं, वे अपने स्वामी की इच्छा के विरूद्ध आचरण नहीं करती हैं।।2।।

तदनन्तर सुरमंजरी के सहज ही मिल जाने से जो मित्र बहुत आश्चर्य कर रहे थे, उनके साथ कुमार अपने माता पिता के पास गये। मित्रों को आश्चर्य होना ही चाहिये। क्योंकि जो वस्तु आपको दुर्लभ होती है- कठिनता से भी नहीं मिलती है, वह यदि दूसरे को सहज ही मिल जाती है, तो आश्चर्यजनक होती ही है।।3।। इसे देखकर माता पिता को भी अतिशय स्नेह हुआ। काल के मुँह में ये निकला हुआ बेटा किसको आनन्ददायक व स्नेह का कारण नहीं होता? सब ही को होता है।।4।। फिर उन्होंने अपनी दोनों प्यारी स्त्रियों को बारी-बारी से प्रसन्न किया। क्योंकि संसार की यही नीति है।।5।।

इनके अनन्तर जीवंधर कुमार और गन्धोत्कट मंत्रणा करके - विचार करके वहाँ से चले गये। क्योंकि पंडित जन जो कार्य करना चाहते हैं, जब तक वह पूर्ण न हो ले, तब तक विश्राम नहीं लेते हैं।।6।। और विदेह देश की धरणीतिलका नामक राजधानी में पहुँचे, जो कि धरणी में (पृथ्वी में) तिलक स्वरूप उत्तम नगरी है।।7।। वहाँ उनके मामा विदेह देश के राजा ने उनका बड़ा आदर किया। ऐसा कौन है, जो अपनी बहिन के महाभाग्यवान् बेटे का आदर नहीं करता? सभी करते हैं।।8।। गोविन्दराज भी जीवंधर कुमार के गये हुए राज्य की स्थापना करने के लिये तैयार था। जब मत्त हाथी आप ही दन्त प्रहार करना चाहता है, तब दूसरे के उकसाये जाने पर तो कहना ही क्या है? अर्थात् गोविन्दराज यों ही तैयार था, फिर कुमार के उकसाने से तो तैयार होना ही था।।9।।

फिर शत्रु को किस प्रकार जीतना चाहिये, व शत्रु के विषय में क्या करना चाहिये, इस प्रकार की बातों के जानने वाले राजा ने मंत्रशाला में आकर मंत्रियों से सलाह की। क्योंकि किसी बात का निश्चय बिना सलाह के नहीं करना चाहिये। और जब किसी बात के करने का निश्चय कर लिया हो, तब फिर सलाह नहीं करनी चाहिये।।।10।। उसी समय मंत्रियों ने काष्ठांगार का यह संदेश सुनाया,- क्योंकि शत्रु का हृदय जानकर ही प्रतीकार

प्रारंभ करना चाहिये।।11।।- "राजा सत्यंधर को एक मदोन्मत्त हाथी ने मार डाला था, परन्तु पाप के उदय से उनके मारने का अपयस मुझे लगाया गया है। पर इस अपयस को आप जैसे यथार्थ बात के जानने वाले झूठ समझते ही हैं।।12।। (अब आप कृपा करके यहाँ आईये) आपके आने से मैं निःशल्य हो जाऊँगा। अर्थात् मेरे चित्त में जो इस अपयस का काँटा चुभ रहा है, वह निकल जायेगा। क्योंकि सुजनों के साथ यदि संगम हो जाये, तो दुष्टजनों में सुजनता आ जाती है।।13।।" इस संदेश से यह निश्चय हुआ कि, शत्रु बहुत जल्दी धोखा देना चाहता है। सच है, दुर्जनों का नम्र होना भी धनुष झुकाने की तरह भयानक होता है।।14।। शत्रु हमें धोखा देना चाहता है, यह देखकर अपना काम करने के सिवाय जिसे कुछ भी नहीं सूझता था, ऐसा गोविन्दराज संतृप्त हो गया। सच है, दुर्जन के आगे सुजनता दिखाना ऐसा है, जैसे कीचड़ में दूध डालना। भाव यह है कि, काष्ठांगार पर कोप करना ही योग्य था। उसके साथ शान्ति का बर्ताव करना कीचड़ में दूध डालने के समान था।।15।। "उसने हमको किसी मतलब से बुलाया है। इसलिये हम भी उसके इस बुलाने के बहाने से वहाँ जाते हैं। अर्थात् जब उसने हमको छल करके बुलाया है, तब हम सब उसके इस छल से लाभ उठाने के लिये- उसे उल्टा धोखा देने के लिये वहाँ जाते हैं।" यह बात गोविन्द राज ने अच्छी तरह से निश्चय की। सच है, जो लोग किसी को जीतना चाहते हैं, वे बगुले की तरह आचरण करते हैं। अर्थात् बगुले सरीखे बाहर से साधु बन जाते हैं, पर भीतर से घात करने के प्रयत्न में रहते हैं।।16।। फिर उसने सब लोगों में यह प्रसिद्ध करवा दिया कि, मेरी काष्ठांगार से मित्रता हो गई है और ढिंढोरा भी पिटवा दिया। क्योंकि समाचार की सूचना गमन से भी पहले हो जाती है। अर्थात् अपने रवाना होने के पहले ही यह समाचार वहाँ पहुँच जावेगा, इस विचार से उसने ढिंढोरा पिटवा दिया।।17।। इसके पीछे इस चतुर राजा ने एक बड़ी भारी चतुरंगिनी सेना तैयार की। क्योंकि अपने शत्रु के कामों की प्रबलता का विचार करके ही उपाय निश्चय किया जाता है।।18।। तदनन्तर गोविन्दराज ने मुनि, अर्जिका (आर्यिका) आदि पात्रों को दान देकर अच्छे लगन में अपने नगर से प्रस्थान किया। क्योंकि दान पूजा करने वालों के तथा तप और शील की पालना करने वालों के ऐसे कौन से काम हैं, जो सिद्ध नहीं होते हैं? अर्थात् सभी कार्य सिद्ध होते हैं।।19।। फिर यह बड़ी भारी सेना का स्वामी राजा मार्ग में कई एक पड़ाव डाल के राजपुरी में पहुँचा और वहाँ राजपुरी के पास किसी स्थान में ठहर गया।।20।।

इस समय काष्ठांगार ने गोविन्दराज के पास बारंबार बहुत सी भेंटे (सौगातें) भेजीं परन्तु व्यर्थ। हाय! ये कपटी लोग माया से चतुरों के समान आचरण करते हैं।।21।। यहाँ

से स्वामी के मामा ने भी बदले की भेंट भेजी। क्योंकि जब तक मनोरथ पूरा न हो जाये, जब तक शत्रुओं की आराधना करनी ही चाहिये।।22।।

तदनन्तर गोविन्दराज ने एक चन्द्रकयंत्र तैयार करवाया, जिसमें कि तीनों वराह बने हुए थे, ओर घोषणा करवा दी कि, जो कोई पुरुष इस यंत्र के तीनों वराहों को एक साथ छेद देगा, उसे मैं अपनी कन्या विवाह दूंगा। ठीक ही है। जो लोग उत्तम उपायों में तत्पर रहते हैं, वे कार्य को नियम से सिद्ध कर सकते हैं।।23।। घोषणा को सुनकर तीनों वर्णों के कुल में उत्पन्न होने वाले (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) धनुर्धारी इकट्ठे हो आये। क्योंकि जब तक मोह रहता है, तब तक जीवों का प्रयत्न ऐसी वस्तु के पाने के लिये भी होता है, जो उनके योग्य नहीं होती है।।24।। परन्तु वे सारे ही धनुर्धारी उस यंत्र के वराहों को छेदने में समर्थ नहीं हो सके। क्योंकि पारगामिनी अर्थात् सम्पूर्ण विद्या कहाँ रखी है?।।25।। आखिर विजया के बेटे ने अर्थात् जीवंधर कुमार ने चन्द्रकयंत्र पर चढ़कर अलात चक्र से तीनों वराहों को लीला मात्र में शीघ्र ही बेध दिया। सत्य है, क्या सूर्य अंधकार का नाश करने वाला नहीं है?।।26।।

इस समय अवसर देखकर गोविन्दराज ने वहाँ जितने राजा एकत्रित हुये थे, उन सबसे कह दिया कि, यह महाराजा सत्यधंर का पुत्र है। ठीक ही है, कृती पुरुषों की वाणी योग्य स्थान में ही होती है। अर्थात् विद्वान जन अवसर देखकर ही बोलते हैं।।27।। यह सुनकर उन राजाओं ने भी यह कहकर कि, 'हाँ! हमको भी याद आ गया' गोविन्दराज की बात मान ली और राजपुत्र का अभिनन्दन किया। क्योंकि जो पुरुष धनुर्धारियों के आलीढ़ादि पाँच स्थानों में चतुर होता है, उसका नरेन्द्रत्व व राजापना सूचित होता है। अर्थात् कुमार धनुर्विद्या की उक्त चतुराई को देखकर उन्होंने जान लिया कि, निश्चय करके यह राजा का पुत्र होगा।।28।।

काष्ठांगार जीवंधरकुमार को देखकर क्षीणचित्त हो गया- उसका उत्साह भंग हो गया और राजाओ की उक्त बात सुनकर तो वह मूर्ख मृतप्राय होकर इस प्रकार विचार करने लगा।।29।। "यदि यह सत्यंधर का पुत्र है, तो हाय! मैं अभी मारा गया क्योंकि पृथ्वी वीरभोग्या है। जो वीर होते हैं, पृथ्वी को वे ही भोगते हैं। और फिर जिसमें सब प्रकार की योग्यता है, उसका तो कहना ही क्या है?।।30।।" उस समय मंथन में मेरी आज्ञा से इस कुत्सित वणिक् को कैसे मारा था, जो यह बच गया। सत्य है, इस लोक में अपने हित के लिये अपने सिवाय और कोई सच्चा हितकारी नहीं।।31।। और इसके दुराशय मामा को

मैंने व्यर्थ ही क्यों बुलवाया? सच है, मूर्ख लोग अपने नाश के लिये आप ही भूतों को उठाते हैं।।32।। गोविन्दराज से मिलकर यह दुर्दान्त अर्थात् कठिनाई से दमन होने वाला कुमार क्या करेगा? वायु की प्रेरणा से वायु का मित्र अग्नि पृथ्वी की कौनसी वस्तु को नहीं जला सकता? भाव यह कि, ये दोनों मिलकर मेरा सर्वनाश कर देंगे।" ।।33।। इस प्रकार जब शत्रु (काष्ठांगार) चिन्ता से व्याकुल हो रहा था, उस समय स्वामी के मित्रों ने उसे भर्त्सना करते हुए और भी अधिकर चिन्तातुर किया। सच है, जिसके पुण्यकर्म क्षीण हो जाते हैं, विपत्तियां उनके पीछे लगी रहती हैं।।34।। सो इस भर्त्सना व अपना से क्षुब्ध होकर मत्सरी करने वाले काष्ठांगर ने जीवंधर के साथ युद्ध करना चाहा। क्योंकि जो पुरुष मत्सरी होते हैं- दूसरे की भलाई से जलते हैं, वे यथार्थ बात को नहीं सोच सकते हैं।।35।। आखिर युद्ध होने लगा। उसमें कुछ राजा तो जीवंधर की ओर हो गये और कुछ शत्रु के पक्ष में हो गये। क्योंकि संसार में सुजन और दुर्जन दोनों के प्रकार के मनुष्य हैं। और ये आज नहीं हो गये हैं, हमेशा से हैं।।36।। तदनन्तर उस युद्ध में कौरव अर्थात् जीवंधर कुमार ने काष्ठांगार को परलोक में पहुँचा दिया। हाय! इस संसार में दुर्बल पुरुष बलवानों से मारे जाते हैं।।37।। शत्रु के मरने पर व्यर्थ जीवहत्या के डर से कुमार ने लड़ाई बन्द कर दी। क्योंकि जो क्षत्रिय होते हैं, वे व्रती होते हैं। अर्थात् क्षत्रियों को संकल्पी हिंसा का सहज ही त्याग होता है, और विरोधी के मर जाने पर पीछे नर हत्या होने से जो हिंसा होती है वह संकल्पी होती हैं।।38।।

उस समय गोविन्दराज ने यह कहकर कि, "मेरी बहिन विजया ने ऐसा वीर पुत्र जना और मेरी पुत्री लक्ष्मण ऐसे वीर पुरुष की स्त्री हुई" कुमार का आनन्द से अभिनन्दन किया।।39।। फिर आसपास के चारों ओर से आये हुए सामन्त राजा उसकी सेवा करने लगे। क्योंकि नाटक के सभ्यों अर्थात् दर्शकों के लिये नाटक में किसी की सम्पत्ति का नाश हो जाना और उदय होना बराबर होता है, अर्थात् अधीनस्थ सामन्तगण, जो राजा होता है, उसी की सेवा करने लगते हैं। एक का उदय और दूसरे का अस्त उन्हें बराबर होता है।।40।। फिर जीवंधर स्वामी राजपुरी के जिनमंदिर में राज्याभिषेक से अभिषिक्त होने के लिये गये। क्योंकि दिव्यस्वरूप जिनभगवान के समीप होने पर सिद्धियाँ अवश्य होती हैं।।41।। इतने में सुदर्शन यक्ष भी प्रसन्नता से वहाँ आ गया। क्योंकि सज्जन पुरुष पनस कठहर वृक्षों की तरह फल ही देते हैं।।42।। तब उस यक्ष ने गोविन्दराज के साथ बड़े गौरव से कौरव महाराज अर्थात् जीवंधर कुमार का विधिपूर्वक राज्याभिषेक किया।।43।। फिर यक्षेन्द्र राजेन्द्र से पूछकर अपने स्थान को चला गया। क्योंकि सूर्य कमल को खिला देता है,

पर उससे आसक्ति की अपेक्षा नहीं रखता है। अर्थात् खिलाये के पीछे फिर उससे कुछ संबंध नहीं रखता है अस्ताचल की ओर चला जाता है।।44।। फिर सारे लोक को प्रसन्न करने वाले वे राजसिंह अर्थात् महाराज जीवंधर जिनमंदिर से अपने महल में आये आरै वहाँ उन्होंने अपने कुलपरंपरागत सिंहासन को अलंकृत किया।।45।।

सब लोग बड़े अचरज में आकर उनके वृत्तान्त को सोचने लगे। क्योंकि जो सम्पत्ति व विपत्ति समझ में नहीं आ सकती- अचानक हो जाती है, वह विशेष करके आश्चर्यकारी होती है।।46।। "अहो! कर्मों की विचित्रता को देखो, कि कहाँ तो वह पूज्य राजपुत्रपना और कहाँ वह शमशान भूमि मे जन्म लेना, और कहाँ यह फिर से राज्य मिल जाना।।47।। पुण्य और पाप के सिवाय और कोई भी वस्तु सुख दुख का कारण नहीं है। क्योंकि जब पाप का उदय होता है, तब मकड़ी को उसका जाला भी कुएँ में गिरने से नहीं बचा सकता है।।48।। जिसको मारना चाहते थे, उसने अपने मारने वाले को ही मारकर राज्य ले लिया। क्योंकि जो कुछ होना है, वह अवश्य होकर रहता है। भावी किसी से भी नहीं टल सकती।।49।। अपने जीने की इच्छा से विस्तार से जिसने राजा को ठगा था- मारा था, वह काष्ठांगार भी मारा गया! सच है कि, दूसरे का नाश करने वाला अपना ही नाश करने वाला होता है।।50।। देखो! वह यक्ष तो केवल क्षणभर के उपकार से प्राणों की रक्षा करने वाला हो गया अर्थात् उसने जीवंधर की जान बचा ली और काष्ठांगार जिसे सत्यधंर ने सारा राज्य सौंप दिया था, कृतघ्न हो गया- उसने अपने उपकारी की ही जाने ले डाली! इसी से कहते हैं कि, स्वभाव बदला नहीं जाता।।51।। अपकार और उपकार करने से सज्जन और दुर्जन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता है। अर्थात् सज्जनों के साथ उपकार किया जाये तो भी वे सज्जन रहते हैं और दुर्जनों के साथ उपकार भी किया जाये, तो भी वे दुर्जन ही रहते हैं। जैसे सोना जलाया हुआ भी चमकता है, परन्तु अंगार (कोयला) किसी भी प्रकार से (धोने से भी) शुद्ध नहीं होता है।।52।। खाली और भरी दशा में अर्थात् धनी और निर्धनों की अवस्था में भी सज्जन और दुर्जनों में भेद नहीं पड़ता है। देखो, सूखी हुई भी नदी खोदने से मीठा जल देती है, पर भरे हुए भी समुद्र से मीठा जल नहीं मिलता है"।।53।।

जीवंधर के सुराज्य में उस देश में वह प्यारी कहावत प्रसिद्ध हो गई कि, "सुन्दर राजावाली उत्तम पृथ्वी सुख को क्यों न अनुभव करें?" अर्थात् जिसे देश में उत्तम राजा होता है, वहाँ की प्रजा अवश्य ही सुखी होती है।।54।। महाराज ने काष्ठांगार के कुटुम्ब

को अपने स्थान में सुख से रहने की आज्ञा दे दी, उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया। क्योंकि सज्जनों का क्रोध अयोग्यों नहीं होता है।।55।। फिर अपने भाई नन्दढ्य को युवराज के पद पर, पिता गन्धोत्कट को बूढे क्षत्रियों के योग्य पद पर और दोनों माताओं को (विजया और सुनन्दा को) लोकपूज्य पद पर स्थापित किया।।56।। पृथ्वी को बारह वर्ष के कर से (टैक्स से) रहित कर दिया अर्थात् जमीन का महसूल बारह वर्ष के लिये बिल्कुल माफ कर दिया। क्योंकि जिस जल को भैंसे गंदा कर डालते हैं, वह तत्काल ही बैठकर निर्मल नहीं होता।।57।। भाव यह है कि, काष्ठांगार ने अनुचित असह्य कर वसूल करके प्रजा को इतना निर्धन कर डाला था कि, इस प्रकार बारह के लिये कर छोड़े बिना प्रजा की आर्थिक अवस्था तत्काल ही अच्छी नहीं हो सकती थी।।58।। तत्पश्चात् जीवंधर महाराज ने पद्मास्य आदि मित्रों को भी यथायोग्य पद दिये। क्योंकि लोग साधारण परिज्ञान से रंजायमान नहीं होते। अर्थात् कोन किस पद के योग्य है, इसका पूरा ज्ञान होने से और तदनुसार लोगों को योग्य पद देने से वे प्रसन्न होते हैं।।58।।

उसी समय महाराज की आज्ञा से उनकी पद्मा आदि सब रानियाँ आ गई और वे स्वामी को देखकर क्षणभर में सम्पूर्ण मानसिक व्यवस्थाओं से रहित हो गईं। उनके मन की सारी पीड़ायें जाती रहीं।।59।। क्योंकि विरूद्ध पदार्थ के देखने पर चिरस्थायी पदार्थ भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् सुख के मिलने से पहला सारा दुख जाता रहता है। क्या दीपक के पास आने पर भी गुफा का मुख अंधकारयुक्त रह सकता है? नहीं।।60।।

फिर महाराज जीवंधर ने गोविन्दराज की दी हुई नवुति की बेटी लक्ष्मण को विवाह किया। विवाह में अधीनस्थ राजाओं ने बड़ा भारी उत्सव मनाया।।61।।

श्रीमान् जितसेनाचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में लक्ष्मणालम्ब नामका दशम लम्ब समाप्त हुआ।

*****

एकादश लम्ब

तदनन्तर बुद्धिमान महाराज राज्यलक्ष्मी और लक्ष्मणा को प्राप्त करके बहुत ही प्रसन्न हुए। क्योंकि चिरकाल की चाही हुई वस्तु के मिल जाने पर बड़ी भारी तृप्ति व प्रसन्नता होती है।।1।।

राज्य के पाने से राजा के सारे गुण शोभायमान होने लगे। सच है, हार में यदि कांच पिरोया जाये, तो वह बुरा मालूम होता है। परन्तु यदि मणि पिरोयी जाये, तो वह हार बहुत ही शोभायमान होता है। उसका गुण बढ़ जाता है, तात्पर्य यह कि, जीवंधर यों तो वैसे ही गुणवान थे, परन्तु राज्य प्राप्त करके और भी अधिक गुणों से शोभायमान होने लगे।।2।। सम्पत्ति और विपत्ति में बुद्धिमानों की एकसी वृत्ति रहती है। सत्य है, नदी के जल के आ जाने से समुद्र में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है। अभिप्राय यह है कि, राज्य वैभव के मिल जाने पर भी जीवंधरकुमार की वृत्ति में कुछ विकार नहीं हुआ।।3।।

अब जीवंधर महाराज के सारे सुख दुख प्रजा के आधीन हो गये। अर्थात् प्रजा के सुख दुख से वे अपने को सुखी दुखी समझने लगे। क्योंकि जन्म देने के सिवाय अन्त के सब विषयों में राजा ही प्रजा के माँ बाप हैं।।4।। जिस तरह दान देना सुखदायक होता है, उसी प्रकार से उस राजा को कर (महसूल) देना भी प्रजा को प्रीति कर अर्थात् आनन्ददायक हुआ। सच है, क्या धान्य के खेत में बीज बोने से होता है।।5।। यद्यपि राजा को मित्र शत्रु और उदासीन राजाओं का साक्षात् ज्ञान नहीं होता (उन्हें तद्विषयक ज्ञान गुप्तचरों के द्वारा ही होता है) तथापि गुप्तचरों के द्वारा सारा वृत्तान्त जानकर वे उसका उपाय उसी समय कर देते थे।।6।। वे नियमपूर्वक काम करने वाले बने और रात दिन के विभागों में नियत किये हुए कामों का यथा समय करने लगे। क्योंकि जो काम समय नहीं किया जाता है- समय निकल जाने पर किया जाता है, वह सिद्ध नहीं होता है।।7।। जैसे तप में योगक्षेम कर अर्थात् मनवचनकार्यरूप योगों के रोकने की आवश्यकता है, उसी प्रकार राज्य में योगक्षेम की अर्थात् नहीं पाये हुए को पाने की तथा पाये हुए की रक्षा करने की आवश्यकता है। इस कारण राज्य और तप दोनों एक से हैं।।8।। जब ये महाराज सावधान होकर सारी पृथ्वी की एक नगरी के समान बड़ी सुविधा से रक्षा करने लगे, उस समय वहां की पृथिवी निष्कंटक शासन होने से अपने रत्नगर्भा नाम को सार्थक करने लगी।।9।।

इस प्रकार जब ये महाप्रतापी राजाओं के राजा जीवंधर विराजमान हो रहे थे- राज्य कर रहे थे, तब उनकी माता विजया संसार से विरक्त हो गई अर्थात् उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया।।10।। (वह सोचने लगी कि), मैंने इस श्रेष्ठ पुत्र में इसके पिता की पदवी को देख लिया। अर्थात् इसको राजा के पद पर प्रितिष्ठत देख लिया। और पहले जिन्होंने उपकार किया था वे भी यथोचित कृतकृत्य कर दिये गये अर्थात् उन सबका प्रत्युपकार कर दिया गया।।11।। और पुण्य पाप का फन शास्त्रों के सिवाय मैंने अपने आप में ही देख लिया। फिर कर्मों का परिपाक अन्यत्र देखने से क्या प्रयोजन है?।।12।। इसलिये अब मैं पुत्र का मोह छोड़ करके जैसा चाहिये वैसा तप करूँगी। क्योंकि सब कुछ जानकर भी संसाररूपी कुण्ड में पड़े रहना नीच मनुष्यों का काम है"।।13।।

'विजया के इस प्रकार विरक्त हो जाने पर सुनन्दा को भी वैराग्य हो गया। क्योंकि पुण्य और पाप के उदय आने में कोई न कोई बाह्य कारण अवश्य होता है। अर्थात् विजय के वैराग्य का कारण पाकर उसे भी वैराग्य हो गया।।14।। और फिर वे दोनों शोकयुक्त राजा से किसी न किसी प्रकार सम्मति लेकर वहाँ से चली गईं और दोनों ने विधिपूर्वक जिनदीक्षा ले ली।।15।। उस समय सम्पूर्ण अर्जिकाओं में श्रेष्ठ जो पद्मा नामकी अर्जिका (आर्यिका) थीं, वह उन दोनों राजमाताओं को अर्जिका का पद लेकर जीवंधर महाराज को प्रतिबोधित करने लगीं,।।16।। "बुद्धिमानों को यह उचित नहीं है, किसी को सन्यासिनी होने से रोकें। आकाश से यदि रत्नों की वर्षा होती हो, तो वह रोकी नहीं जाती है।।17।। जो बुद्धिमान है, वे अवस्था के अंत में भी अर्थात् वृद्ध हो जाने भी दीक्षा लेने की अपेक्षा करते हैं- दीक्षा ले लेना चाहते हैं। क्योंकि पंडित जन रत्नों के हार को भस्म के लिये नहीं जलाते हैं। अर्थात् इस मनुष्य जन्मरूपी रत्नों के हारको संसार सुखरूप निस्सार भस्म के लिये नष्ट नहीं करते। तन ही करते हैं"।।18।। जीवंधर महाराज के पद्मा अर्जिका ने जब इस प्रकार प्रतिबोधित कर समझा दिया, तब वे नमस्कार करके अपनी माता के पास से नम्रतापूर्वक लोट आये और अपने राजमहल में चले गये।।19।। बुद्धिमानों का हृदय चिरकाल तक विकारयुक्त नहीं रहता है। मलिनता तो रत्नों में भी लग जाती है, परन्तु उसका साफ होना कुछ कठिन नहीं होता है। भाव यह है कि, माता की दीक्षा से राजा के हृदय में जो शोक का विकार हुआ था, वह शीघ्र ही दूर हो गया। बहुत समय तक नहीं रहा। जैसे रत्न में लगा हुआ दाग सहज ही साफ हो जाता है।।20।।

तदनन्तर न क्षत्रविद्या को जानने वाले जीवंधर महाराज ने देवताओं सरीखे सुखों से पृथ्वी को भोगते हुए तीस वर्ष एक क्षणभर के समान व्यतीत कर दिये। अर्थात् उन्होंने तीस वर्ष राज्य किया। और यह समय सब प्रकार के सुखों के कारण बात ही बात में बीत गया।।21।।

एक बार उन्होंने बसन्तऋतु में अपनी आठों स्त्रियों के साथ बड़े कौतुक से जलक्रीड़ा का महान् उत्सव किया।।22।। उस उत्सव में जलक्रीड़ा के श्रम से थक्कर महाराज एक लतामंडपयुक्त उद्यान में बन्दरों के साथ क्रीड़ा करने लगे। और उनसे अच्छी-अच्छी चेष्टायें कराने लगे।।23।। उस समय किसी बन्दर ने किसी और बन्दरी के संभोग किया। इस कारण उसकी प्यारी बन्दरी क्रुद्ध हो गई। बन्दर ने अपनी बन्दरी को बहुत से उपाय करके मनाना चाहा, परन्तु वह उसे प्रसन्न नहीं कर सका।।24।। निदान- वह बन्दर छल से मृततुल्य होकर भूमि पर पड़ा रहा। यह देख वह वानरी डर गई और बन्दर के पास जाकर उसने उसकी उस मृततुल्य अवस्था को दूर कर दिया।।25।। तब बन्दर ने भी हर्षित होकर अपनी वानरी को एक पनसफल (कठहर) उपहारस्वरूप दिया। परन्तु एक वनपाल ने वानरी की भर्त्सना करके अर्थात् उसे मारकर वह फल छीन लिया।।26।।

यह सब घटना देखकर विशेष बातों के जानने वाले विद्वान् राजा को उसी समय वैराग्य उत्पन्न हो गया। और इस प्रकार से अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने लगे।।27।।

अनित्य भावना

यह वनपाल मेरे समान है, वानर काष्ठांगार के समान है, और पनसफल राज्य के समान है। इसलिये यह फल मेरे त्यागने के ही योग्य है।।28।। प्राणियों की यह परिपाटी है कि, उन्होंने जन्म लिया, पुष्ट हुए, फिर नष्ट हो गया। स्थिर कोई नहीं रहा। इसलिये हे आत्मन्! स्थिरस्थान अर्थात् मोक्ष की ओर ध्यान लगा अथवा मोक्ष को प्राप्त कर।।29।। यह जीवन क्षणमात्र भी स्थायी नहीं जान पड़ता है। फिर भी बड़े खेद की बात है कि, प्राणियों की इच्छायें करोड़ों से भी अधिक हैं।।30।। "विषयभोग चिरकाल तक रहकर भी आखिर नष्ट हो जाते हैं।" जबकि यह निश्चय है, तब उन्हें स्वयं ही छोड़ देंगे, तो हमारी मुक्ति हो जायेगी, अन्यथा जन्ममरणस्वरूप संसार की वृद्धि होगी।।31।। यदि नाशवान् देह से अविनाशी सुख व मोक्ष प्राप्त हो सकता है, तो हे आत्मन्! व्यर्थ समय क्यों खोता है? तुझे समय को सफल करना चाहिये अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये।।32।।

अशरण भावना

हे जीव! जैसे नौका के डूब जाने पर समुद्र में पक्षी को कोई भी शरण नहीं होता है, उसी प्रकार मृत्यु के समय तेरा कोई भी शरण नहीं हो सकता है। स्वास्थ्य रहते ही अर्थात् अच्छे भले ही में हजारों शरण सहायक दिखलाई देते हैं।।33।। चाहे इस जीव की रक्षा के लिये इसके प्यारे बन्धु बहुत से आयुध के लिये हुए चारों ओर से घेरे हों, तो भी यह देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है।।34।। हे आत्मन्! मंत्रयत्रादिक भी तेरे सच्चे स्वतंत्र रक्षक नहीं। पुण्य होने पर ही ये सब सहायक करते हैं और यदि पुण्य का उदय न हो, तो इनका होना भी निष्फल है।।35।।

संसार भावना

हे आत्मन्! तू अपने कर्मों के वश से नट के समान नाना प्रकार के वेष धारण करके भ्रमता रहता है। पाप से तिर्यंच और नरकगति में, पुण्य से स्वर्गलोक में और पुण्यपाप से मनुष्य गति में जन्म धारण करता है।।36।। हे देही! बड़े खेद की बात है कि, तू लोहे के पिंजरे में कैद हुए सिंह की तरह एक क्षण मात्र भी जो नहीं सहा जाये ऐसे इस दुस्सह देह में किस प्रकार रहता है?।।37।।

इन पुद्गलों में कोई भी परमाणु ऐसा नहीं है, जिसको तूने कई बार न भोग लिया हो। फिर क्या इन पुद्गलों के लेश से जो पिये हुए समुद्र के बिन्दु की तरह है, तेरी तृप्ति हो सकती है? कदापि नहीं।।38।। जो वस्तु भोग कर छोड़ दी है, उसी उच्छिष्ट को तू फिर भोगना चाहता है। अब तू बिना भोगे हुए और सर्वोत्तम मुक्ति के आनन्द को भोगने की इच्छा क्यों नहीं करता?।।39।। संसार में रागद्वेषादि से कर्म बँधते हैं, कर्म से दूसरे शरीरों में जाना होता है, शरीरों से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियों के द्वारा रागद्वेषादिक होते हैं और रागद्वेषादि से फिर इसी प्रकार संसारचक्र में भ्रमण करना पड़ता है।।40।। यह कार्य कारण रूप प्रबन्ध अनादि से चल रहा है। इसमें नित्य दुःख ही मिलता है। इसलिये हे आत्मन्! इसको अभी छोड़ दे।।41।।

एकत्व भावना

हे आत्मन्! यद्यपि तू एक शरीर को छोड़कर दूसरा धारण करता है और अपने कर्मों के अनुसार भ्रमण करता रहता है, परन्तु जन्म और मरण के समय तू सदा अकेला ही रहता है ।42।।

बन्धुजन केवल शमशान पर्यंत साथ जाते हैं, उपार्जित किया हुआ धन घर में रहता है, और शरीर भस्म हो जाता है। केवल एक धर्म ही तेरे साथ चलेगा। अर्थात् धर्म तेरा साथ नहीं छोड़ेगा, और सब तेरा साथ नियम से छोड़ देंगे।।43।। पुत्र, मित्र, स्त्री तथा अन्य लोग जिनसे बीच में ही तेरा साथ हो गया है, यदि तेरे साथ नहीं जाते है, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि, तेरा शरीर भी जो इस पर्याय के प्रारंभ से ही साथ है, तेरे साथ नहीं जावेगा।।44।। तू ही कर्मों का कर्त्ता और फलों का भोक्ता है।

और तू ही मुक्ति को प्राप्त करने वाला है, फिर हे तात! तू अपने अधीन मुक्ति के लेने में इच्छा क्यों नहीं करता?।।45।। हे आत्मन्! कर्मों के द्वारा ही अज्ञानी होकर तू स्वाधीन सुख अर्थात् मोक्ष सुख पाने के लिये उसके उपायों में अभिलाषा नहीं करता है।

अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के जो-जो उपाय हैं, उन्हे नहीं करता है, उल्टा दुःख के कारणों में लगा रहता है।।46।।

अन्यत्व भावना

हे आत्मन! मैं देहरूप हूँ, यह बात तू कदापि अपने चित्त में न ला। कर्म करके ही तेरा शरीर से संबंध है। तू तो कोश के (म्यान के) भीतर रहने वाली तलवार के समान है।।47।। हे आत्मन्! अनित्य, अपवित्र और चेतनरहित होने से यह शरीर तुझसे अन्य है और सचेतन, अविनाशी तथा पवित्र होने का कारण तू इस शरीर से अन्य है।।48।। जो बुद्धि आप ही आप अशुभ कार्य में लगती है और यत्न करने पर भी शुभ कामों में प्रवृत्त नहीं होती, उसका हेतु पूर्वजन्म के दुष्कर्म हैं। और इसी हेतु से आत्मा भी वैसे ही कर्म करने लग जाता है"।।49।।

अशुचित्व भावना

जिसके संबंध में पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं और जो रूधिर वीर्यादि मलों से उत्पन्न हुआ है, क्या वह शरीर अपवित्र नहीं है? अवश्य है।।50।। कर्मरूपी कारीगर की खूबी से यह शरीर स्पष्ट नहीं दिखाई देता है, इसलिये रमणीय भासता है। परन्तु विचार करने से इसमें मल, मांस, हड्डी और मज्जा के सिवाय और क्या है? अर्थात् शरीर इन्हीं अपवित्र पदार्थों का पिंड है।।51।। हे आत्मन्! और तो क्या, यदि दैवयोग से इस शरीर का अन्तः स्वरूप अर्थात् भीतरी हिस्सा देह के बाहर निकल आवे, तो उसके अनुभव न करने की इच्छा तो दूर ही रहे, कोई उसे देखेगा भी नहीं।।52।। इस प्रकार हे आत्मन्! नाश को प्राप्त होने वाले परन्तु अविनाशी मोक्ष के साधनभूत इस मांसपिंडमय शरीर को इससे जो मोक्षरूप फल मिलता है, उसे इसके नष्ट होने के पहले ही प्राप्त करके छोड़ दे। अर्थात् शरीर से तपसयादिक करके मोक्ष प्राप्त कर और फिर इसे छोड़ा।।53।। हे आत्मन्! तू इस शरीर का सारांश ले ले, फिर इस शरीर के नष्ट होने पर भी बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करते। जैसे कि ईख का रस ले लेने पर यदि ईख को जला दिया जाय, तो कुछ शोक नहीं होता है।।54।।

आस्रव भावना

हे आत्मन्! कर्मरूपी पुद्गल जो बड़े दुःख से अलग होते हैं निरन्तर आगमन करते रहते हैं। और उन कार्मों से भरा हुआ होकर तू जल से भरी हुई नाव के समान नीचे ही चला जाता है अर्थात् अधोगति को प्राप्त होता है।।55।। हे आत्मन्! इस आस्रव के कारण तेरे ही योग और कषाय हैं, जो सदा उत्पन्न होते रहते हैं। आत्मा के प्रदेशों में चंचलता होने को योग और शुभ अशुभरूप परिणामों को कषाय कहते हैं।।56।। हे आत्मन्! इस कर्म का यह आस्रव है, इस प्रकार भली भांति जानकर जिन-जिन कर्मों के जो-जो आस्रव हैं उनका त्याग करते हुए कर्म और उनके कारणरूप आस्रव को छोड़कर मोक्षगामी हो जा।।57।।

संवर भावना

हे आत्मन्! तू अनुप्रेक्षाओं का (भावनाओं का) चिन्तवन करते हुए, समिति और गुप्तियों का पालन करते हुए, और तप, संयम तथा धर्म को धारण करते हुए नाना प्रकार

की परिषहों को जीत।।58।। हे आत्मन्! जब तू ऐसा हो जावे, तब कर्मों का आस्रव रूक जाने से इस संसार रूपी समुद्र में उस नाव के समान हो जा, जिसके पानी आने के छेद बंद हो जाते हैं, और इस कारण बिना विघ्न के, जो अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाती है।।59।। विकथादि पन्द्रह प्रमादों को छोड़कर, और आत्मन भावना में लवलीन होकर बाह्य परिग्रह से ममत्व छोड़ दे। फिर गुप्ति आदि तो तेरे हाथ पर ही रखी है। अर्थात् वे तो सहज ही पल सकती है।।60।। इस प्रकार सदा आत्माधीन होकर सुख से प्राप्त होने वाले मुक्ति मार्ग में अपनी बुद्धि लगा। दुःखदायी बाह्य मार्ग में बुद्धि लगाने से क्या लाभ होगा?।।61।। हे आत्मन्! बाह्य पदार्थों से निस्सार सम्बन्ध जोड़कर तू मोह करता है, उससे तेरे हृदय में प्रत्यक्ष ही व्यथा उत्पन्न होती है, जो कि साक्षात् नरक को ले जाने वाली है।।62।।

निर्जरानुप्रेक्षा

तीनों रत्नों की अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की वृद्धि से तेरे पूर्व संचित कर्मों का भी नाश हो सकता है। क्योंकि किसी कारण से उद्दीप्त हुई अग्नि क्या दाह्य वस्तु में कुछ बाकी छोड़ती है? अर्थात् नहीं।।63।। हे आत्मन्! तू पूर्व कर्मों का नाश करके और आगामी जाने वाले कर्मों को रोककर तेरहवाँ गुणस्थानवर्ती केवली हो जा। जब तालाब का सारा पानी निकल जाता है, और नया जल आ नहीं पाता है, तब उसमें जल कहाँ रह सकता है?।।64।। हे आत्मन्! फिर तू इन तीनों रत्नों को सुगमता से पूर्ण कर सकते है। क्योंकि मोह के क्षोभ से रहित हो जाने पर परिणाम निर्मल हो जाते हैं। भावार्थ यह है कि, तेरहवें गुण्स्थान से चौदहवें गुणस्थान में जाना बहुत ही सहज है।।65।। परिणाम व शुद्धि के लिये बाह्य तप करना चाहिये। क्योंकि अग्नि आदि के नाश होने पर चावल नहीं पक सकते।।66।। जब तू बाह्य पदार्थों में इच्छा नहीं करेगा, तब ही परिणाम विशुद्धि होगी। और इच्छा न करने में ही सुख है, इसलिये तू बाह्य पदार्थों में क्यों वृथा मोहित होता है?।।67।। हे आत्मन्! मोक्ष सुख की बात तो जाने दे, अभी तू अपनी इन्द्रियों को वश में करके अपने आप ही अपने स्वरूप को अपने भीतर विचारता हुआ उसके सुख को अनुभव करे।।68।। शान्त अन्तःकरण वाले पुरुषों को अपने आप अनुभव में आने वाली जो प्रीति उत्पन्न होती है, वही प्रीति इस बात के लिये प्रमाण है कि, आत्मा से उत्पन्न हुआ कोई अनन्त सुख भी होता है।।69।।

लोक भावना

यह लोक तीन पवनों से घिरा हुआ चरण फैलाए हुए और कमर पर हाथ रखे हुए पुरुष के समान है। इसके ऊर्ध्व मध्य और अधो ये तीन भाग हैं। अर्थात् ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक।।70।। हे आत्मन्! इस असंख्यात प्रदेश वाले लोक में जो कि जन्म और मरण का स्थान है, ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है, जहाँ तू अनन्तबार जन्मा और मरा न होगा।।71।। हे आत्मन्! अज्ञान व मिथ्याज्ञान के होने से तू पहले की तरह फिर संसार में भ्रमण करेगा। क्योंकि कारण के प्रबल होने पर कार्य का नाश नहीं होता।।72।। हे आत्मन्! मूढ़ जनों के भोगने योग्य सुख को त्याग करके तप करने में यत्न कर, क्योंकि प्रकाश होने से चिरस्थायी अन्धकार भी नष्ट हो जाता है।।73।।

बोधिदुर्लभ भावना

इस कर्मभूमि में जन्म लेना, मनुष्यपर्याय का पाना, भव्यता अर्थात् तीनों रत्नों के प्रकाश करने की योग्यता, स्वङ्गवश्यता अर्थात् अवयवों का सुन्दर सुदृढ़ होना और अच्छे कुल में उत्पत्ति, हे आत्मन्! इन बातों का मिलना एक से एक अधिक कठिन है और सबका एक साथ पाना तो बहुत ही कठिन है। उसकी दुर्लभता के विषय में तो कहना ही क्या है?।।74।। परन्तु हे आत्मन्! यदि तेरी धर्म में बुद्धि न हो, तो इन सब बातों का एकत्र होना भी निष्फल है। यदि अन्न के पेड़ों में बाले न आवें, तो खेत आदि सामग्रियों के होने से क्या? कुछ भी नहीं।।75।। इसलिये हे मूढ़! इस दुर्लभ शरीर को धर्म में लगा। जो मनुष्य राख के लिये रत्न को जला देता है, उससे अधिक मूर्ख और कौन होगा? अभिप्राय यह है कि, धर्म न करके विषयादि सेवन में शरीर को लगाये रखना राख के लिये रत्नों को जलाना है।।76।। धर्म और पाप से कुत्ता देव हो जाता है, और देव कुत्ता हो जाता है। इसलिये तू दुर्लभ धर्म को धारण कर। क्योंकि धर्म ही संसार में मनोरथों को पूर्ण करने वाला है।।77।। हे आत्मन्! तुझे भव्यता, अन्तरंगदृष्टि, जीवमात्र पर दया और सबकी प्राप्ति होकर तू सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की बढ़वारी से युक्त हो।।78।।

धर्म भावना

हे आत्मन्! धर्म का माहात्म्य देख! धर्म कार्य करने वाला कभी शोक नहीं करता। सारे प्राणी धार्मिक पुरुष में विश्वास करते हैं और आश्चर्य की बात यह है कि, धर्मात्मा जन दोनों लोक में सुखी रहता है।।79।। हे आत्मन्! जब तक तू मोक्ष को प्राप्त नहीं हुआ है, तब तक तेरी इस हितकारी और अतिशय निर्मल जैनधर्म में मोक्ष की देने वाली अत्यन्त स्थिर रूचि बनी रहे।।80।।

इति बारह भावना

इस प्रकार बारह भावनाओं के चिन्तवन से राजा को स्थिर व निश्चल वैराग्य हो गया। होना ही चाहिये, क्योंकि सज्जनों की यह प्रकृति ही है कि उनके विचार में स्थिरता होती है। और फिर इस विषय में सहायता मिलने पर तो कहना ही क्या है? अर्थात् फिर तो और भी स्थिरता आ जाती है।।81।।

विरक्त होकर महाराज जीवंधर ने अपने राज्य को तथा अन्य पदार्थों को तृण के समान भी नहीं समझता। सच है, यदि हाथ में अमृत आ गया हो तो, फिर कड़वी वस्तु कौन पीता है।।82।। आखिर जैन शास्त्रों के जानने वाले उन जीवंधर स्वामी ने वहाँ से चलकर जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की और एक चारणऋद्धि के धारण करने वाले योगिन्द्र से धर्म श्रवण किया।।83।। और उसके श्रवण करने से वे अतिशय निर्मल महाराज धर्म विद्या के जानने वाले हुए। क्योंकि रत्नों के संस्कार करने में जो मणिकार चतुर होता है, उसके सान पर रखने और चमकाने के प्रयत्न करने से रत्न बड़ा ही उज्ज्वल हो जाता है।।84।।

तदनन्तर राजा ने अपना पूर्व जन्म का वृत्तान्त जानने की इच्छा से उन चारणमुनि से प्रश्न किया। तब उन्होंने महाराज के पूर्वजन्म की इस प्रकार कथा कही।।85।। "हे राजन्! तू पहले धातकी खण्ड के भूमितिलक नगर में राजा पवनवेग का यशोधर नामक पुत्र था।।86।। हे राजश्रेष्ठ! किसी समय तू राजहंस के बच्चे को उसके घोंसले में से खेलने के लिये आया और उसका तूने निर्दोषता से पालन पोषण किया।।87।। यह बात तेरे धर्मज्ञ पिता ने कहीं से सुन ली, इसलिये उसने उसी समय तुझे धर्म का उपदेश दिया। अर्थात् समझाया कि, इस तरह से पक्षियों को बंधन में रखना अच्छा नहीं है। इसमें दोष लगता है। क्योंकि इस बच्चे को एक तो बंधन का दुःख होता है और दूसरे इसके माँ बाप इसके वियोग से अतिशय दुःखी होंगे। सो इस उपदेश के सुनने से तू अतिशय धर्मात्मा बन गया।।88।।

उसी समय तुझे अत्यन्त वैराग्य हो गया। पिता ने रोका भी, परन्तु तू नहीं माना और अपनी स्त्रियों समेत तूने जिनदीक्षा ले जी। तू दिगम्बर मुनि हो गया।।89।। हे भव्योत्तम! फिर घोर तपश्चरण करके उसके प्रभाव से तू अपनी आठों स्त्रियों के साथ देवत्व को प्राप्त हुआ। अर्थात् तू देव हुआ और तेरी आठों स्त्रियाँ देवांगनायें हुईं। पश्चात् स्वर्गलोक से चलकर तू अपनी स्त्रियों समेत यहाँ राजा हुआ है।।90।। पूर्व जन्म में तूने हंस के बच्चे को उसके माँ-बाप से तथा उसके स्थान से अलग किया था और अपने घर लाकर पिंजरे में बंद किया था। इसलिये उसके अलग करने से तुझे वियोग और उसके बंधन से तेरा बंधन हुआ।।91।। योगीन्द्र का यह वाक्य सुनकर जीवंधर महाराज राज्य से ऐसे डरे, जैसे कि सर्प बिजली के गिरने से डरता है और फिर नमस्कार करके अपने नगर में आ गये।।92।।

तदनन्तर उनके नन्दाढ्य आदि छोटे भाइयों ने और उनकी आठों रानियों ने भी सद्धर्म रूपी अमृत का पान किया और उससे उन सबने विषयभोगों के सुख को विष के तुल्य समझा।।93।। तब वहाँ पर विद्वान जीवंधर स्वामी गन्धर्वदत्ता के पुत्र सत्यंधर का राज्याभिषेक करके अर्थात् उसे गद्दी पर बिठाकर आप अपनी आठों रानियों समेत भगवान् के समवसरण को प्राप्त हुए।।94।।

समवसरण सभी में आकर राजा ने परम पूज्य श्री महावीर तीर्थंकर की पूजा की और बाम्बार स्तुति की।।95।। हे भगवान्! मैं संसार के जन्ममरण के रोग से सदा पीड़ित और भयभीत रहता हूँ। सो आप जैसे अकारण वैद्य के उपस्थित होते हुए भी क्या वह तीव्र पीड़ा सहने के योग्य है? अर्थात् आप ऐसा उपाय कीजिये, जिससे यह वेदना सहनी न पड़े।।96।। आप सबके हितकारी हो, सब कुछ जानते हो, प्रारब्ध के सारे कर्मों को नष्ट कर सकते हो, और मैं एक भव्य हूँ। फिर मेरा यह जन्ममरणरूप भवरोग क्यों नहीं दूर होता?।।97।। हे मोहरहित भगवान्! मैं इस देहरूपी पुराने और बड़े वन में मोहरूपी दावानल से (दँवारसे) जल रहा हूँ। और इससे निरन्तर मोहित हो रहा हूँ, मेरी रक्षा करो!।।98।। हे वीतराग! सारी विपत्तियों का फल देने वाले संसाररूपी विषवृक्ष के मेरे रागरूपी अंकुरों को जड़ से उखाड़कर फेंक दो।।99।। हे खेवटिया (कर्णधार) भगवन्! संसार सागर के मध्य में डूबे हुए मैंने रत्नत्रयरूपी नौका बड़ी कठिनाई से प्राप्त की है। सो यह नौकर मुझे मोक्ष के पार पहुँचाने वाली हो।।100।।

इस प्रकार तीन जगत के गुरु श्री महावीर भगवान की स्तुति कर चुकने पर

जीवंधर महाराज ने आज्ञा पाकर जिनदीक्षा के लिये गणधर देव को नमस्कार किया।।101।। फिर बुद्धिमान राजा ने दिगम्बरीय दीक्षा लेकर उन्हीं महावीर भगवान के सामने बहुत कठिन तप किया, जिससे कि मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय आदि आठों कर्मों का क्रम से नाश हो जाता है।।102।।

तदनन्तर जीवंधर महामुनि तीनों रत्नों की पूर्ति के कारण अनन्तज्ञान अनन्तसुखादि गुणों से पुष्ट हुए।।103।। और अन्त में उन्होंने सिद्ध पदवी प्राप्त करके अलौकिक शोभायुक्त केवल ज्ञानरूप अतुल, अमुख्य और अनन्त मोक्षलक्ष्मी का अनुभव किया।।104।।

इस प्रकार जो महती इच्छा वाला पुरुष उस महान् सुख को प्राप्त करने की इच्छा करता है, जो कि पवित्र जैनधर्म द्वारा सकल कर्मों के नाश करने से मिलता है, उस बुद्धिमान को कल्याण की प्राप्ति के लिये पवित्र जैनधर्म का अवलम्बन करना चाहिये, जो जैनधर्म कुमतिरूपी हाथी के प्रहार करने में सिंह के समान है।।105।।

गुणों में सारे क्षत्रियों का चूड़ामणि (शिरोमणि), प्रभाव और युवावस्था में शूरवीर और महान् ऐश्वर्य से कुबेर के तुल्य यह राजाओं को राजा जीवंधर शोभायान हो!।।106।।

श्रीमान् अजितसेनाचार्य के रचे हुए क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में मुक्तिश्रीलम्ब नाम का ग्यारहवां लम्ब समाप्त हुआ।

*****

प० पू० आचार्य श्री 108 वसुनन्दी जी मुनिराज (निर्णय सागर) द्वारा रचित, संपादित एवं निर्ग्रंथ ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित उपयोगी साहित्य

1. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
2. हमारे आदर्श
3. चित्रसेन पद्मावती चरित्र
4. नंगानंग कुमार चरित्र
5. मौनव्रत कथा
6. सुदर्शन चरित्र
7. प्रभंजन चरित्र
8. सुरसुन्दरी चरित्र
9. चारुदत्त चरित्र
10. करकण्डु चरित्र
11. नागकुमार चरित्र
12. सीता चरित्र
13. सप्त व्यसन चरित्र
14. वीर वर्धमान चरित्र-1
15. वीर वर्धमान चरित्र-2
16. भद्रबाहु चरित्र
17. हनुमान चरित्र
18. महापुराण भाग-1
19. महापुराण भाग-2
20. श्री जम्बूस्वामी चरित्र
21. यशोधर चरित्र
22. व्रतकथा संग्रह
23. रामचरित्र भाग-1
24. रामचरित्र भाग-2
25. आराधना कथा कोश भाग-1
26. आराधना कथा कोश भाग-2
27. आराधना कथा कोश भाग-3
28. शान्तिनाथपुराण भाग-1
29. शान्तिनाथपुराण भाग-2
30. सम्यक्त्व कौमुदी
31. धर्मामृत भाग-1
32. धर्मामृत भाग-2
33. पुण्यास्रव कथा कोश भाग-1
34. पुण्यास्रव कथा कोश भाग-2
35. अकंपमती
36. पुराण सार संग्रह भाग-1
37. पुराण सार संग्रह भाग-2
38. सुलोचना चरित्र
39. गौतम स्वामी चरित्र
40. महीपाल चरित्र
41. जिनदत्त चरित्र
42. सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
43. चेलना चरित्र
44. धन्यकुमार चरित्र
45. सुकुमाल चरित्र
46. छत्रचूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)
47. चन्द्रप्रभ चरित्र
48. कोटिभट्ट श्रीपाल चरित्र
49. महावीर पुराण
50. वरांग चरित्र
51. रामचरित्र (पुनः प्रकाशित)
52. पाण्डव पुराण
53. पार्श्वनाथ पुराण
54. त्रिवेणी
55. सुशीला उपन्यास
56. भरतेश वैभव
57. गागर में सागर (प्रवचन)
58. स्वाति की बूँद (प्रवचन)
59. दशामृत (प्रवचन)
60. सीप का मोती (महावीर जयन्ती प्रवचन)
61. चूको मत (प्रवचन)
62. जय बजरंग बली (प्रवचन)
63. चैन की जिन्दगी (प्रवचन)
64. वसुनंदी उवाच (प्रवचनांश)
65. सम्राट चन्द्रगुप्त (प्रवचन)
66. जीवन का सहारा (प्रवचन)
67. तैयारी जीत की (प्रवचन)
68. श्रुत निर्झरी (प्रवचन)

69. उत्तम क्षमा (प्रवचन)
70. मान महा विष रूप (प्रवचन)
71. तप चाहें सुर राय (प्रवचन)
72. जिस बिना नहिं जिनराज सीजे (प्रवचन)
73. निज हाथ दीजे साथ लीजे (प्रवचन)
74. परिग्रह चिंता दुःख ही मानो (प्रवचन)
75. रंचक दगा बहुत दुःख दानी (प्रवचन)
76. लोभ पाप को बाप बखाना (प्रवचन)
77. सतवादी जग में सुखी (प्रवचन)
78. उत्तम ब्रह्मचर्य (प्रवचन)
79. नारी का धवल पक्ष (प्रवचन)
80. खुशी के आंसू (प्रवचन)
81. आईना मेरे देश का (प्रवचन)
82. न मिटना बुरा है न पिटना (प्रवचन)
83. सर्वोदयी नैतिक धर्म (प्रवचनांश)
84. मीठे प्रवचन 1,2,3,4 (प्रवचन)
85. शायद यही सच है (प्रवचन)
86. क्षरातीत अक्षर (प्रवचन)
87. दिगम्बरत्व : क्या, क्यों, कैसे? (प्रवचन)
88. जिनदर्शन से निजदर्शन (प्रवचन)
89. निश भोज त्याग : क्यों? (प्रवचन)
90. जलगालन : क्या, क्यों, कैसे? (प्रवचन)
91. धर्म : क्या, क्यों, कैसे? (प्रवचन)
92. चन्द्रप्रभ विधान (विधान)
93. दुःखों से मुक्ति (विधान)
94. शान्तिनाथ विधान (विधान)
95. अजितनाथ विधान (विधान)
96. श्रद्धा के अंकुर (विधान)
97. पूजा-अर्चना (विधान)
98. सदार्चन सुमन (विधान)
99. अरिष्ट निवारक विधान संग्रह (विधान)
100. पंचपरमेष्ठी विधान (विधान)
101. श्री शान्तिनाथ, भक्तामर सम्मेदशिखर विधान (विधान)
102. निज अवलोकन
103. धम्म रसायण
104. जिन श्रमण भारती
105. रयणसार
106. योगामृत भाग-1
107. योगामृत भाग-2
108. आध्यात्मतरंगिणी
109. योगसार भाग-1
110. योगसार भाग-2
111. भव्य प्रमोद
112. तत्त्वार्थ सार
113. कल्याण कारक
114. आराधनासार
115. तनाव से मुक्ति - 1
116. तनाव से मुक्ति भाग-2
117. उपासकाध्ययन भाग-1
118. उपासकाध्ययन भाग-2
119. नीतिसार समुच्चय
120. सिन्दूर प्रकरण
121. प्रबोध सार
122. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
123. पुण्य वर्द्धक
124. चौंतीस स्थान दर्शन
125. सार समुच्चय
126. दान के अचिन्त्य प्रभाव
127. आहार दान
128. कुरलकाव्य
129. धर्म संस्कार भाग-1
130. धर्म संस्कार भाग-2
131. प्रकृति समुत्कीर्तन
132. भगवती आराधना
133. निर्ग्रंथ आराधना
134. निर्ग्रंथ भक्ति
135. कर्मप्रकृति
136. नौ-निधि
137. पंचरत्न
138. व्रताधीश्वर-रोहिणी व्रत
139. तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
140. रत्नकरण्डक श्रावकाचार
141. तत्त्वार्थ सूत्र
142. छहढाला (तत्त्वोपदेश)
143. भावत्रय फलप्रदर्शी

144. सच्चे सुख का मार्ग
145. कर्म विपाक
146. अन्तर्यात्रा
147. सुभाषित रत्न संदोह
148. मेरा संदेशा
149. धर्मबोध संस्कार 1, 2, 3, 4
150. सप्त अभिशाप
151. श्री महावीर भक्तामर स्तोत्र
152. कल्याणी
153. कलम-पट्टी बुद्धिका
154. खोज क्यों रोज-रोज
155. जागरण
156. णंदिणंद सुत्तं
157. डॉक्टरों से मुक्ति
158. आ जाओ प्रकृति की गोद में
159. धर्मरत्नाकर
160. हाइकू
161. स्वप्न विचार
162. विषापाहार स्तोत्र
163. हीरों का खजाना
164. तत्त्वभावना
165. धर्म की महिमा
166. जिन कल्पि सूत्रम्
167. विद्यानंद उवाच
168. सफलता के सूत्र
169. तत्त्वज्ञान तरंगनी
170. जिन कल्पि सूत्रम्
171. णमोकार महार्चना
172. समाधि तंत्र
173. सुख का सागर चालीसा
174. पुरूषार्थ सिद्धीउपाय
175. बोधि वृक्ष
176. दिव्यलक्ष्य
177. आधुनिक समस्याऐं प्रमाणिक समाधान
178. वसुऋद्धि
179. संस्कारादित्य
180. मुक्तिदूत के मुक्तक
181. जिन सिद्धान्त महोदधि
182. गुण रत्नाकर
183. आज का निर्णय
184. गुरु कृपा
185. तत्त्व विचारो सारो
186. न मैं चुप हूँ न गाता हूँ
187. मूलाचार प्रदीप
188. गुरुवर तेरा साथ
189. सद्गुरु की सीख
190. चार श्रावकाचार
191. पग वंदन

प्रेस में :-

1. फर्श से अर्श तक
2. स्वास्थ्य बोधामृत
3. कुछ कलियाँ कुछ फूल
4. प्रभाती संग्रह
5. आदिनाथ विधान
6. मुनिसुव्रतनाथ विधान
7. नेमिनाथ पुराण
8. नवग्रह विधान
9. आराधाना समुच्चय
10. सरस्वती आराधना
11. जैन धर्म की क ख ग
12. मल्लिनाथ पुराण

प.पू. आचार्य श्री वसुनन्दी जी मुनिराज के जीवन चरित्र पर आधारित

1. दृष्टि दृश्यों के पार
2. अक्षर शिल्पी
3. समझाया रविन्दु न माना
4. वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (प्रेस में)